भूमिका

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख उन्नायक थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र को आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्मदाता कहा जाता है और वे सच्चे अर्थ में जन्मदाता थे। आधुनिक हिन्दी साहित्य में जो विविध-रूपता, जो विशिष्ट राष्ट्रीयता, जो व्यापकता और सहृदयता दिखाई पड़ती है वह भारतेन्दु जी की ही देन है। परंतु दुर्भाग्य से वे अकाल ही काल-कवलित हुए और हमारी भाषा और साहित्य उनके बिना निरावलम्ब बन गया। उस नवजात शिशु के समान साहित्य के पालन पोषण की समुचित व्यवस्था तो उन्होंने कर दी थी और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनके बताए हुए मार्ग पर चलने वाले उनके सहयोगी—बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास—उसकी सेवा में तन मन से निरत थे, परंतु उसे दीक्षित और संस्कार-संयुक्त वे न कर सके थे और यह महत्त्वपूर्ण कार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सम्पन्न किया और इतनी योग्यता से सम्पन्न किया कि भारतेन्दु का अभाव हमें तनिक भी न खटका। भारतेन्दु ने मध्यदेश की मूक जनता को एक वाणी दी, द्विवेदी जी ने उस वाणी का संस्कार किया, उसमें स्पष्टता और संगति दी। आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य का समुचित संस्कार कर द्विवेदी जी ने आचार्यत्व की मर्यादा प्रतिष्ठित की।

से एकदम विपरीत थी; उनमें सुधारक-वृत्ति इतनी प्रबल थी कि वे केवल कवि बन कर नहीं रह सकते थे। अपने उस अन्धकारमय युग को वे सच्ची कविता के लिए उपयुक्त नहीं समझते थे। उन्होंने संस्कृत के अमर कवि कालिदास, भवभूति, भारवि और श्रीहर्ष का अमृतमय काव्यरस-पान किया था फिर उन्हें यमक-अनुप्रास के आडम्बर तथा भद्दी तुकबंदियों से कैसे संतोष होता। अस्तु, कवि रूप में उन्होंने केवल दो ही मुख्य कार्य किए—एक तो कविता का सच्चा रूप प्रदर्शित करने के लिए कालिदास और भारवि की 'प्रसन्न गम्भीर पद्य सरस्वती' का सुन्दर अनुवाद उपस्थित किया और दूसरे रीति-कालीन हिन्दी कविता के संकीर्ण और सीमित क्षेत्र से निकल कर व्यापक क्षेत्र में आने के लिए अपने सहयोगी कवियों को प्रेरित किया। पहली तरह की द्विवेदी जी की रचनाओं में 'कुमारसम्भव सार' अत्यंत सफल और प्रभावशाली रचना है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के कुमारसम्भव से सुन्दर स्थलों का शुद्ध और टकसाली खड़ी बोली में जो अनुवाद द्विवेदी जी ने प्रस्तुत किया वह सच्चे अर्थ में अभूतपूर्व था। भाषा की उत्कृष्टता और प्रवाह का एक उदाहरण देखिए :

फूल रूप एक ही पात्र में भरा हुआ था मद मकरंद,
भ्रंमरी के पीने के पीछे पिया भ्रमर वर ने सानंद।
छूने से जिस मृगी प्रिया के सुख वश हुए विलोचन बंद।
एक सींग से उसे खुजाया कृष्णसार मृग ने सानन्द॥

आज से सैंतालीस वर्ष पूर्व १९०२ में इस प्रकार की शुद्ध और साहित्यिक खड़ी बोली का आदर्श उपस्थित करना द्विवेदी जी ही का काम था।

द्विवेदी जी की दूसरी तरह की रचनाएँ बहुत कुछ गद्यात्मक हो गई हैं, समय सूचकता ही जिनका विशेष गुण था। इन गद्यात्मक कविताओं में कभी-कभी एक व्यङ्ग—एक तीखा चुभता-सा व्यङ्ग—मिलता है। यही व्यङ्ग सुधार का कार्य करता है और इसके बिना सुधार का कार्य सम्भव भी नहीं है। द्विवेदी जी का व्यङ्ग सरल परन्तु अत्यन्त स्पष्ट होता था। 'ग्रंथकार-लक्षण' शीर्षक रचना में तत्कालीन ग्रंथकारों पर एक व्यङ्ग सुनिए :

भला बुरा छपवाए सिद्ध,
धन न सही नाम ही प्रसिद्ध
नाटक उपन्यास लिखने में ज़रा न जो सकुचाते हैं।
जिनके नाच कूद का सार,
बँगला भाषा का भंडार,
वे ही महामहिम विद्वान ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

[सरस्वती, अगस्त १९०१]

इसी प्रकार 'विधि-विडम्बना' शीर्षक कविता में वे विधाता से उपालम्भ-स्वरूप कहते हैं;

[illegible] हैं कवियों में हम न पाए जाते हैं,
[illegible] नहीं, [illegible] दिखलाते हैं।
शुभाशुभ शब्द रूप का है जिनको नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नए नए [illegible]॥

कविता की दृष्टि से इन्हें तुकबंदी मात्र कह सकते हैं परंतु ये गद्या-

त्मक तुकबंदियाँ भी उस समय कविता के सुधार के लिए अत्यंत आवश्यक थीं। द्विवेदी जी सच्ची काव्य-कला के पक्षपाती थे, वह काव्य-कला जो कालिदास और भवभूति, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और माइकेल मधुसूदन दत्त में मिलती है; और हिन्दी साहित्य में उसी काव्य-कला की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने गद्य और पद्य दोनों माध्यम से एक प्रबल आंदोलन चलाया था। स्वयं कवि बनने की अपेक्षा हिन्दी काव्य-साहित्य का सुधार और संस्कार ही उन्हें इष्ट था और उसी के लिए उन्होंने अपनी पूरी प्रतिभा का उपयोग किया।

कवि के पश्चात् द्विवेदी जी का दूसरा रूप समालोचक का था। द्विवेदी जी के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने से पहले समालोचना-साहित्य का श्रीगणेश ही हुआ था। हिन्दी में समालोचक अभी तक पैदा नहीं हुए थे। १८९७ में काशी से नागरी प्रचारिणी पत्रिका प्रारम्भ हुई और उसी के साथ समालोचना का भी आरंभ हुआ। १८९८ में द्विवेदीजी ने 'विक्रमांकदेव चरित-चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' लिखकर संस्कृत-काव्यों की समालोचना का कार्य प्रारंभ किया। द्विवेदी जी संस्कृत कविता के मर्मज्ञ थे और उन्होंने अधिकांश समालोचनाएँ संस्कृत काव्य और कवियों पर ही लिखी हैं। हिन्दी काव्य और कवियों पर समालोचना का कार्य मिश्रबंधुओं ने प्रारंभ किया था, द्विवेदी जी ने इधर दृष्टि भी न डाली। इसका कारण क्या था, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता परंतु जान पड़ता है कि जिसे वे सच्ची कविता मानते थे उसका आदर्श उन्हें संस्कृत-कवियों में ही प्राप्त हुआ, हिन्दी कवियों में नहीं। कालिदास, भवभूति और भारवि उनके अति

प्रिय कवि थे। कालिदास के संबंध में उनके अनेक निबंध 'सरस्वती' में
प्रकाशित होते रहते थे और उनके संग्रह से द्विवेदी जी की दो पुस्तकें
कालिदास के संबंध में प्रकाशित हो चुकी हैं। पहली पुस्तक का नाम
'कालिदास' है जिसमें कालिदास का समय-निर्धारण तथा उनके ग्रंथों
की संक्षिप्त समालोचनाएँ हैं। दूसरी पुस्तक 'कालिदास की निरंकुशता'
नाम से प्रकाशित हुई है और उसमें कवि-कुल-गुरु की भाषा-संबंधी
त्रुटियों का निदर्शन किया गया है। संस्कृत की अन्य अनेक रचनाओं
पर भी समय-समय पर द्विवेदी जी के फुटकर लेख 'सरस्वती' में निक-
लते रहे हैं और उन सब को एक स्थान पर एकत्र कर अध्ययन करने
से द्विवेदी जी की समालोचना-पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता
है।

हिन्दी काव्य, कवि और ग्रंथों की समालोचना द्विवेदी जी ने बहुत
ही कम की है और जो कुछ की भी है वह केवल कर्तव्य-पालन की
दृष्टि से की है 'स्वांतः सुखाय' नहीं। 'हिन्दी कालिदास' और 'हिन्दी
नवरत्न' की विस्तृत आलोचनाएँ इसी कोटि की हैं, जिनमें द्विवेदी जी
ने भाषा-संबंधी त्रुटियों का ही निदर्शन अधिक किया है और भाषा
सम्बन्धी असंगति और अशुद्धता मात्र प्रदर्शित करके वे समालोचक के
कर्तव्य से मुक्ति पा गए हैं। सरस्वती के सम्पादन काल में द्विवेदी
जी का पूरा ध्यान भाषा के निर्माण की ओर ही रहा है। इसी कारण
उनकी अधिकांश समालोचनाएँ भाषा सम्बन्धी त्रुटियों के विवेचना
न दर्शन और परिहार तक ही सीमित नहीं हैं। अस्तु, द्विवेदी जी की
समालोचना-पद्धति के सम्बन्ध में साधारण पाठकों में एक भ्रांति फैल

गई है। वे द्विवेदीजी को उच्च कोटि का समालोचक मानने को किसी भी प्रकार प्रस्तुत नहीं होते क्योंकि समालोचना की बात उठते ही उनके सामने 'कालिदास की निरंकुशता 'हिन्दी कालिदास' और 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचनाएँ आ जाती हैं। परंतु द्विवेदी जी की सच्ची समालोचना इन ग्रंथों में नहीं है वरन् नैषध, विक्रमांकदेव चरित, मेघदूत, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय आदि प्राचीन काव्यों और उनके लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की विवेचनात्मक व्याख्याओं में है। प्रस्तुत संग्रह में 'मेघदूत' शीर्षक निबंध पढ़कर देखिए, द्विवेदी जी की समालोचना-पद्धति स्पष्ट हो जायगी। वह समालोचना स्वयं एक मौलिक कृति-सी जान पड़ती है जिसमें साहित्य का पूरा आनंद प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिए 'मेघदूत' लेख का उपसंहार देखिए:

परंतु जो लोग उस रास्ते (प्रेम के रास्ते) नहीं गए उनके मनोरंजन और आनन्दोत्पादन की भी सामग्री मेघदूत में है। उसमें आपको चित्रकूट के ऊपर बने हुए ऐसे कुंज देखने को मिलेंगे जिनमें बनचरों की स्त्रियाँ विहार किया करती हैं। पर्वतों के ऐसे दृश्य आप देखेंगे जिन्हें वर्षा ऋतु में केवल वही लोग देख सकते हैं जो पर्वतवासी हैं या जो विशेष करके इसी निमित्त पर्वतों पर जाते हैं। दशार्ण की केतकी कभी आपने देखी है ? विदिशा की वेत्रवत्ती की लहरों का भ्रू-भंग कभी आपने अवलोकन किया है ? उस प्रांत के उपवनों में चमेली की कलियों को चुनने वाली पुष्पलावियों से आपका कभी परिचय हुआ है ? नहीं, तो आप मेघदूत पढ़िए।

[प्रस्तुत संग्रह पृ० ६१]

समालोचक के रूप में द्विवेदी जी न तो रामचंद्र शुक्ल की भाँति वैज्ञानिक समालोचक थे न लाला भगवानदीन और मिश्रबंधुओं की भाँति परम्परावादी। वे मूलरूप से प्रभाववादी (Impressionistic) शैली के समीक्षक थे। 'कवि और कविता' शीर्षक लेख में उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है कि "अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है।" उर्दू के प्रसिद्ध साहित्य-इतिहास लेखक और विद्वान 'आज़ाद' भी लगभग यही बात कहते हैं कि :

है इल्तिजा यही कि अगर तू करम करे,
वह बात दे ज़बाँ में कि दिल पर असर करे ॥

यह सच है कि भाषा और साहित्य के निर्माण में निरंतर व्यस्त रहने के कारण द्विवेदी जी समालोचना के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि वे बहुत ही सहृदय व्यक्ति थे और उनमें एक सच्चे समालोचक के बीज थे जो भली भाँति अंकुरित न हो सके।

कवि और समालोचक के अतिरिक्त द्विवेदीजी निबंध लेखक और शैलीकार के रूप में भी अधिक प्रसिद्ध हैं। परिमाण की दृष्टि से

निबंधों में व्यक्तित्व की छाप बिल्कुल नहीं होती उसमें लेखक तटस्थ-सा होकर केवल शुद्ध ज्ञान की बातें लिखता है। इस प्रकार के निबन्ध ज्ञानप्रदायक और शक्ति प्रदायक होते हैं, आनन्द-प्रदायक नहीं। द्विवेदीजी के अधिकांश निबन्ध इसी कोटि की रचनायें हैं जिनमें लेखक ने तटस्थ भाव से कुछ ज्ञान की बातें बोधगम्य भाषा और सरल आकर्षक शैली में कहने का प्रयास किया है।

द्विवेदीजी के निबंध उनके विस्तृत अध्ययन के द्योतक हैं। प्रतिपाद्य विषयों की विविधता और व्यापकता के साथ लिखने की सरल और आकर्षक शैली, समझाने का सहज घरेलू ढंग और भाषा की बोधगम्यता देखकर सहसा दंग रह जाना पड़ता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा-सम्बंधी, साहित्यिक, भाषा और कला-सम्बंधी सभी प्रकार के गम्भीर और सामान्य, साधारण और असाधारण सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विषयों पर उनकी लेखनी समान रूप से चलती रही है। कभी वे आत्मा और परमात्मा, सांख्य और योग, कुंडलिनी और पुनर्जन्म जैसे गम्भीर विषयों पर इस ढंग से लिखते हैं कि साधारण से साधारण पाठक भी उसे भली प्रकार हृदयंगम कर सकें, और कभी क्रोध और लोभ जैसे साधारण विषयों पर भी इस अधिकार से लिखते हैं कि विद्वान् व्यक्ति भी उससे कुछ सीख सकें। इन निबंधों में मौलिक चिन्तन और मनन की सामग्री चाहे कम हो, परंतु विस्तृत अध्ययन और सभी बातें जानने और समझने की जिज्ञासा और प्रयत्न का अभाव कभी नहीं रहता।

निबंध-लेखक के रूप में भी द्विवेदीजी में हिन्दी प्रेमी जनता

के हित की भावना ही प्रधान है। जो अँगरेज़ी, बँगला, मराठ
गुजराती के ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाओं से परिचय प्राप्त नहीं कर
जिन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है, ऐसे हिन्दी पाठकों को वे
ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना चाहते थे। उनके विस्तृत अ
में जो बात हिन्दी पाठकों के लिए उपयोगी प्रतीत होती थी, उसे
और स्पष्ट शब्दों में अपनी चित्ताकर्षक व्यास शैली में लिख
वे अपना कर्तव्य समझते थे। इसी कारण उनके अधिकांश
अँगरेज़ी, बँगला, मराठी, उर्दू तथा अन्य भाषाओं के ग्रंथों तथ
पत्रिकाओं के विविध लेखों के आधार ही पर लिखे गए हैं
विषय की मौलिकता कम है, पाठकों के हित की भाव
प्रधान है।

द्विवेदी जी के इन निबंधों ने हिन्दी पाठकों के ज्ञान का
किया। द्विवेदी जी से पहले बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण
बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र तथा अन्य निबंध-
लेखक कुछ सीमित साहित्यिक विषयों पर ही अपने विचार
किया करते थे। उनके ज्ञान का विस्तार सीमित और संकीर्ण था;
द्विवेदी जी ने हमारे ज्ञानाकाश के क्षितिज को अत्यंत विस्तृ
प्रयत्न किया। उनके लेख ऐसे नहीं थे जो द्विवेदी जी की मा

निबंधकार ही न थे हिन्दी को यश प्रदान कराने वाले, हिन्दी की शक्ति बढ़ाने वाले निबंधकार थे।

कवि, समालोचक और निबंध-लेखक द्विवेदी जी से भी कहीं महान् व्यक्तित्व सम्पादक द्विवेदी जी का था। १९०३ ई० में उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण किया और उस समय से प्रयाग के इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका का ही नहीं, मध्यदेश की भारती हिन्दी के संचालन में उन्होंने जो कार्य किया, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में सरस्वती ने जो महावीरता प्रदर्शित की उसका कुछ आभास शंकर (नाथूराम शर्मा) की एक कविता में देखिए—

नूतन निबंध मनभावते विचित्र चित्र,
नाना विषयों से वर बानिक बनाती है।
'शंकर' प्रतापशील सज्जन महोदयों के,
जीवन चरित्र जन जन को जताती है।
हिन्दी को सुधार गद्य पद्य का प्रचार करै,
रूढ़ी ब्रजभाषा को भी सादर मनाती है।
ज्ञानी ग्राहकों से महावीरता सरस्वती की,
लेख अलबेले अंक-अंक में गिनाती है॥

[सरस्वती, जनवरी १९०७]

द्विवेदी जी की प्रेरणा से न जाने कितने नए लेखक और कवि हिन्दी को प्राप्त हुए। वह भी एक युग था जब कि शिक्षित समाज के व्यक्ति·

के हित की भावना ही प्रधान है। जो अँगरेज़ी, बँगला, मराठी और गुजराती के ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाओं से परिचय प्राप्त नहीं कर सकते, जिन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है, ऐसे हिन्दी पाठकों को वे विविध ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना चाहते थे। उनके विस्तृत अध्ययन में जो बात हिन्दी पाठकों के लिए उपयोगी प्रतीत होती थी, उसे सरल और स्पष्ट शब्दों में अपनी चित्ताकर्षक व्यास शैली में लिख देना वे अपना कर्तव्य समझते थे। इसी कारण उनके अधिकांश निबंध अँगरेज़ी, बँगला, मराठी, उर्दू तथा अन्य भाषाओं के ग्रंथों तथा पत्र-पत्रिकाओं के विविध लेखों के आधार ही पर लिखे गए हैं जिनमें विषय की मौलिकता कम है, पाठकों के हित की भावना ही प्रधान है।

द्विवेदी जी के इन निबंधों ने हिन्दी पाठकों के ज्ञान का विस्तार किया। द्विवेदी जी से पहले बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र तथा अन्य निबंध-लेखक केवल कुछ सीमित साहित्यिक विषयों पर ही अपने विचार प्रकट किया करते थे। उनके ज्ञान का विस्तार सीमित और संकीर्ण था; परन्तु द्विवेदी जी ने हमारे ज्ञानाकाश के क्षितिज को अत्यंत विस्तृत और प्रशस्त किया। उनके लेख ऐसे नहीं थे जो द्विवेदी जी की साहित्यिक

निबंधकार ही न थे हिन्दी को यश प्रदान कराने वाले, हिन्दी की शक्ति बढ़ाने वाले निबंधकार थे।

कवि, समालोचक और निबंध-लेखक द्विवेदी जी से भी कहीं महान् व्यक्तित्व सम्पादक द्विवेदी जी का था। १९०३ ई० में उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण किया और उस समय से प्रयाग के इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका का ही नहीं, मध्यदेश की भारती हिन्दी के संचालन में उन्होंने जो कार्य किया, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में सरस्वती ने जो महावीरता प्रदर्शित की उसका कुछ आभास शंकर (नाथूराम शर्मा) की एक कविता में देखिए—

नूतन निबंध मनभावते विचित्र चित्र,
नाना विषयों से वर वानिक बनाती है।
'शंकर' प्रतापशील सज्जन महोदयों के,
जीवन चरित्र जन जन को जताती है।
हिन्दी को सुधार गद्य पद्य का प्रचार करे,
रूढी ब्रजभाषा को भी सादर मनाती है।
ज्ञानी ग्राहकों से महावीरता सरस्वती की,
लेख अलबेले अंक-अंक में गिनाती है॥

[सरस्वती, जनवरी १९०७]

द्विवेदी जी की प्रेरणा से न जाने कितने नए लेखक और कवि हिन्दी को प्राप्त हुए। वह भी एक युग था जब कि शिक्षित समाज के व्यक्ति

हिन्दी को गँवारी भाषा समझते थे और उस भाषा में बातचीत करना और उसमें कुछ लिखने की बात सोचना भी अपनी हेठी समझते थे। ऐसे समय द्विवेदीजी के लेखों ने, उनके 'अनुरोध और आग्रह ने जादू का काम किया और कितने ही अँगरेजी' पढ़े-लिखे विद्वान् हिन्दी की ओर उन्मुख हुए। हिन्दी गद्य-पद्य का व्यापक रूप से प्रचार करने का श्रेय सरस्वती-सम्पादक द्विवेदी जी को ही प्राप्त है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जब हिन्दी भाषा और साहित्य एक सीमित क्षेत्र से बाहर निकल कर एक विस्तृत प्रांत के साधारण जनसमूह की भाषा और साहित्य का गौरव प्राप्त करने लगा, उस समय उसमें कितने ही दोष आने लगे थे। भाषा एकदम अव्यवस्थित हो गई, व्याकरण के नियमों की उपेक्षा होने लगी और अम्बाला से भागलपुर तथा शिमला से नागपुर तक फैले एक अति विस्तृत भूमिभाग में अनेक प्रांतों के लेखकों की रचना में प्रांतज शब्दों और

कहानी तथा निबंध के नमूने उपस्थित करना, उन्हें नए-नए सुझाव और समुचित परामर्श देना, विषय और शैली के सम्बंध में उन्हें समय-समय पर संकेत देते रहना और साथ ही युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों को नई दिशा में मोड़ना—यह सभी कार्य द्विवेदी जी ने किया। बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क से शिक्षित जनता ने जो एक नया प्रकाश देखा था, जो एक नए उत्साह से विद्रोह की भावना को जाग्रत किया था, उस भावना को एक व्यवस्थित और सुनिश्चित मार्ग पर लगाना द्विवेदी जी का सबसे बड़ा कौशल था। नए लेखकों को नए नए विषयों की ओर संकेत देने के लिये उन्होंने सरस्वती में राजा रवि वर्मा, ब्रजभूषण राय चौधरी आदि चित्रकारों के चित्र प्रकाशित कर नए नए लेखकों से उन पर काव्य-रचनाएँ कराईं; अन्य भाषाओं के प्रकाशित लेखों के आधार पर हिन्दी में लेख लिख-लिख कर नए-नए लेखकों को नई-नई दिशाएँ दिखाईं। भाषा और छंदों की नवीनता और शुद्धता, विराम चिह्नों का समुचित प्रयोग, अर्थ की स्पष्टता और विचारों की संगति के लिए पैराग्राफ़ों में विषय-विभाजन आदि सुधार उन्होंने सर्वसाधारण में प्रचलित किया। सच तो यह है कि सम्पादक के रूप में द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की जो सेवा की उसी के कारण आज तक उसकी इतनी प्रगति और विकास हुआ है।

द्विवेदी जी आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के सब से बड़े निर्माता थे। आधुनिक साहित्य की भाषा—गद्य और पद्य दोनों—का नव निर्माण कर द्विवेदी जी ने एक महान् कार्य किया। यों

हिन्दी को गँवारी भाषा समझते थे और उस भाषा में बातचीत करना और उसमें कुछ लिखने की बात सोचना भी अपनी हेठी समझते थे। ऐसे समय द्विवेदीजी के लेखों ने, उनके अनुरोध और आग्रह ने जादू का काम किया और कितने ही अँगरेजी पढ़े-लिखे विद्वान् हिन्दी की ओर उन्मुख हुए। हिन्दी गद्य-पद्य का व्यापक रूप से प्रचार करने का श्रेय सरस्वती-सम्पादक द्विवेदी जी को ही प्राप्त है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जब हिन्दी भाषा और साहित्य एक सीमित क्षेत्र से बाहर निकल कर एक विस्तृत प्रांत के साधारण जनसमूह की भाषा और साहित्य का गौरव प्राप्त करने लगा, उस समय उसमें कितने ही दोष आने लगे थे। भाषा एकदम अव्यवस्थित हो गई, व्याकरण के नियमों की उपेक्षा होने लगी और अम्बाला से भागलपुर तथा शिमला से नागपुर तक फैले एक अति विस्तृत भूमिखंड में अनेक प्रांतों के लेखकों की रचना में प्रांतज शब्दों और बोलियों के अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से भाषा अस्पष्ट होने लगी। उस समय द्विवेदी जी ने भाषा को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए जो सफल प्रयत्न किए, उसीसे हिन्दी की रक्षा हो सकी और उसके विकास का पथ प्रशस्त हुआ।

सम्पादक रूप में द्विवेदी जी ने बड़ा परिश्रम किया। सरस्वती में जितने लेख, कहानियाँ, कविताएँ छपने को आती थीं, उन सबको आदि से अंत तक पढ़ना, शुद्ध करना, उन्हें समयोपयोगी और पाठकों के उपयुक्त बनाना द्विवेदी जी का ही काम था। नए-नए लेखकों को प्रोत्साहित करना, उनके पथ-प्रदर्शन के लिये काव्य तथा लेख,

कहानी तथा निबंध के नमूने उपस्थित करना, उन्हें नए-नए सुझाव और समुचित परामर्श देना, विषय और शैली के सम्बध में उन्हें समय-समय पर संकेत देते रहना और साथ ही युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों को नई दिशा में मोड़ना—यह सभी कार्य द्विवेदी जी ने किया। बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क से शिक्षित जनता ने जो एक नया प्रकाश देखा था, जो एक नए उत्साह से विद्रोह की भावना को जाग्रत किया था, उस भावना को एक व्यवस्थित और सुनिश्चित मार्ग पर लगाना द्विवेदी जी का सबसे बड़ा कौशल था। नए लेखकों को नए नए विषयों की ओर संकेत देने के लिये उन्होंने सरस्वती में राजा रवि वर्मा, व्रजभूषण राय चौधरी आदि चित्रकारों के चित्र प्रकाशित कर नए नए लेखकों से उन पर काव्य-रचनाएँ कराईं; अन्य भाषाओं के प्रकाशित लेखों के आधार पर हिन्दी में लेख लिख-लिख कर नए-नए लेखकों को नई-नई दिशाएँ दिखाईं। भाषा और छंदों की नवीनता और शुद्धता, विराम चिह्नों का समुचित प्रयोग, अर्थ की स्पष्टता और विचारों की संगति के लिए पैराग्राफों में विषय-विभाजन आदि सुधार उन्होंने सर्वसाधारण में प्रचलित किया। सच तो यह है कि सम्पादक के रूप में द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की जो सेवा की उसी के कारण आज तक उसकी इतनी प्रगति और विकास हुआ है।

द्विवेदी जी आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के सब से बड़े निर्माता थे। आधुनिक साहित्य की भाषा—गद्य और पद्य दोनों—का नव निर्माण कर द्विवेदी जी ने एक महान् कार्य किया। यों

तो हिन्दी गद्य का मर्यादित स्वरूप भारतेन्दु जी ने प्रतिष्ठित किया था और १८७३ ई० में 'हरिश्चंद्री हिन्दी' का आरम्भ कर साहित्य को गति दी थी, परन्तु हिन्दी गद्य-साहित्य के समुचित विकास के लिए जिस भाषा की आवश्यकता थी, वह द्विवेदीजी ने ही दी थी। भारतेन्दु की मर्यादित भाषा में तद्भव शब्दों की प्रधानता थी और साधारण शिक्षित जनता की बोल-चाल की प्रचलित भाषा ही उन्होंने थोड़े परिवर्तन और संस्कार के साथ साहित्य की भाषा स्वीकार कर ली थी। उस समय की परिस्थिति को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि अपने युग के लिए 'हरिश्चंद्री हिन्दी' ही सर्वमान्य भाषा हो सकती थी क्योंकि उस शैशव काल में विरोधों को बचाते हुए एक सरल और सीधा मार्ग अपनाना ही उचित था। परन्तु उस 'हरिश्चंद्री हिन्दी' से गद्य-साहित्य का समुचित विकास सम्भव नहीं था। कारण यह है कि सरल बोलचाल की भाषा में अपने साधारण भाव और विचार प्रकट करना तो ठीक है, परन्तु ज्ञान-विज्ञान की नई-नई बातों को समुचित रूप से प्रकट करने के लिए केवल सरल और प्रचलित भाषा से काम नहीं चलता, उसके लिए एक ऐसी भाषा चाहिए जो चाहे सरल न हो परन्तु उसमें व्यापकता हो, प्रस्तार और विस्तार के लिए उसमें पर्याप्त क्षमता हो, नए-नए शब्द और पद गढ़ने की जिसमें पूरी गुंजाइश हो। फिर हिन्दी साहित्य के पूर्ण विकास के लिए उसे अन्य भारतीय भाषाओं के सम्पर्क में भी लाना अत्यावश्यक था। यह काम द्विवेदी जी ने किया। पहले तो उन्होंने भारतेन्दु की सरल और तद्भव प्रधान बोलचाल की भाषा में तत्सम

शब्दों को मिलाना प्रारम्भ किया और फिर बँगला, मराठी, संस्कृत, उड़िया तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के सम्पर्क से नए नए शब्द और पद्य जोड़ने प्रारम्भ कर दिए।

तत्सम शब्दों के योग से भाषा में क्लिष्टता आगई, परन्तु यह क्लिष्टता अनिवार्य थी। भौं, बुढ़ापा, राजभक्ति, ट, एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न आदि विषयों पर लेख लिखने के लिये साधारण तद्भव प्रधान बोलचाल की भाषा से काम चलाया जा सकता है, परन्तु आत्मा और परमात्मा, ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद, सांख्य और योग, पुनर्जन्म और नियतिवाद जैसे गूढ़ विषयों पर गम्भीर गवेषणा के लिए यह बोलचाल की भाषा किसी प्रकार भी उपयुक्त न हो सकती। द्विवेदीजी ने जब साहित्य का क्षितिज विस्तृत किया और ज्ञान-विज्ञान, पुरातत्त्व-नृतत्व, समाजशास्त्र-राजनीति, प्राणिशास्त्र और उद्भिद्‌शास्त्र आदि उपयोगी विषयों की चर्चा प्रारम्भ की तो उन्हें तद्‌भव शब्दों के साथ पारिभाषिक और अर्द्ध पारिभाषिक अनेक शब्दों का निर्माण करना पड़ा और वे सभी शब्द संस्कृत के मूल धातुओं से निर्मित किए गए। इस प्रकार नित्य नए-नए तत्सम शब्द हिन्दी में आने लगे और कुछ ही समय में द्विवेदी जी की भाषा भारतेन्दु युग की मर्यादित भाषा से नितांत भिन्न भाषा बन गई। उदाहरण के लिए 'आत्मा' नामक लेख में द्विवेदी जी लिखते हैं:

जिसमें क्रिया और गुण विद्यमान है उसे द्रव्य कहते हैं। परन्तु हमारे परमोन्नतिशील अँगरेज़ लोगों की धर्म पुस्तक के अनुसार आत्मा श्वासोच्वासवत् एक प्रकार का वायु मात्र है। उसके स्थायित्व का कोई

की काव्यात्मक आख्यायिकाओं का अनुवाद द्विवेदी जी की प्रेरणा से हुआ। अभी तक हिन्दी का सम्बन्ध केवल बँगला से ही जुट सका था, परन्तु द्विवेदी जी के प्रयत्न से मराठी, उड़िया और गुजराती से भी हिन्दी का सम्बन्ध जुड़ने लग गया। रामचन्द्र वर्मा तथा हरिभाऊ उपाध्याय ने मराठी तथा गुजराती से, लोचनप्रसाद पांडेय तथा कामताप्रसाद गुरु ने उड़िया से और रूपनारायण पांडेय तथा नाथूराम प्रेमी ने बँगला से अनुवाद करना प्रारम्भ किया। संस्कृत काव्य और नाटकों के अनुवाद का कार्य भी तेज़ी से आगे बढ़ा और स्वयं द्विवेदी जी ने 'कुमार-सम्भव' का पद्यबद्ध तथा रघुवंश, मेघदूत, तथा सम्पूर्ण कुमारसम्भव का गद्यानुवाद किया और भारवि के किरातार्जुनीय को भी हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया। इस प्रकार हिन्दी भाषा में बँगला की कोमल कांत-पदावली, मराठी की अलंकृत शैली और संस्कृत की चमत्कृत व्यंजना शक्ति आने लगी।

भारतीय भाषाओं से हिन्दी का सम्बन्ध जोड़कर ही द्विवेदी जी को संतोष नहीं हुआ, अँगरेज़ी भाषा और साहित्य के विशेष गुणों को हिन्दी में लाने का उन्होंने भरपूर प्रयत्न किया। यद्यपि उनका अँगरेजी भाषा का ज्ञान उनके संस्कृत-ज्ञान के समान अधिक नहीं था, फिर भी अन्य लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिए उन्होंने मिल की पुस्तक स्वाधीनता का हिन्दी अनुवाद किया। अँगरेजी प्रबन्ध-रचना की शैली—पैराग्राफों में उसका विभाजन, विराम चिह्नों का व्यापक प्रयोग, तर्क-संगति और शृंखलाबद्धता, प्रांजलता और स्पष्टता आदि गुणों के अनुकरण पर उन्होंने विशेष जोर दिया। इस प्रकार

द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य की भाषा को अत्यंत व्यापक और व्यंजक, स्पष्ट और सुसंगत, परिष्कृत और परिमार्जित बनाया।

गद्य की भाषा का निर्माण, वास्तव में, द्विवेदी जी का बहुत ही महान् कार्य था, परंतु इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दी काव्य की भाषा का निर्माण था। भारतीय साहित्य की एक यह भी विशेषता थी कि यहाँ काव्य की भाषा प्रायः बोलचाल की भाषा से भिन्न रही है। अत्यंत प्राचीन काल से भगवान बुद्ध के समय से ही, जब कि बोलचाल की भाषा प्राकृत और पाली थी, काव्य और नाटकों की भाषा देव भाषा संस्कृत थी। ईसा से पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व से लेकर पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक लगभग दो हजार वर्ष तक पंडित-समाज में काव्य और साहित्य की भाषा संस्कृत ही रही, यद्यपि बोलचाल की भाषा में समय समय पर कितने ही परिवर्तन होते रहे। पिछले तीन सौ वर्षों से हिन्दी-भाषी प्रांतों में काव्य की भाषा ब्रजभाषा स्वीकृत रही जब कि बोलचाल की भाषा भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी गद्य की भाषा तो बोलचाल की खड़ी बोली हो गई, परन्तु पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी पद्य की भाषा खड़ीबोली के लिए एक प्रबल आंदोलन प्रारम्भ होगया और कतिपय विद्वानों के विरोध करते रहने पर भी अन्त में द्विवेदी जी तथा उनके सहयोगियों के प्रयत्न से ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को काव्य-भाषा का गौरव प्राप्त हुआ।

हिन्दी पद्य की भाषा खड़ीबोली हो—इसका आंदोलन मूल रूप

उन्हें नहीं काम कदापि और से,
अहो महामोह ! प्रचंडता तव ।
कवीश कोई यमकच्छटामयी
महाघटाटोपवती सुचोलिका
बनाय नानाविध है विचक्षणे !
तुझे वशीभूत हुई विचारते ।
सदा समस्या सब को नई नई
सुनाय कोई कवि पाद पूर्तियाँ,
तुझे उन्हीं में अनुरक्त मानते
विरक्त होते नहि, हा रसज्ञता ।
कहीं कहीं छंद, कहीं सुचित्रता
कहीं अनुप्रास विशेष में तुझे
सुजान ढूँढै अनुमान से सदा
परंतु तू काव्य कले ! वहाँ कहाँ !
अभी मिलेगा ब्रज मंडलांत का,
सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर संगी करके उसे सदा,
निरांग होगा तुझको अवश्य ही।
इसीलिए ही भवभूति-भाविते !
अभी यहाँ है कविते न आ न आ।
बता तुही कौन कुलीन कामिनी,
सदा चढ़ैगी पट एक ही वही।

भवभूति-भाविता कविता-कामिनी के आगमन के लिए उपयुक्त परिधान और अलंकारादि की सृष्टि करने के लिए द्विवेदी जी ने कठिन परिश्रम किया। जुलाई १६०१ की सरस्वती में 'हिन्दी के कवियों का कर्तव्य' शीर्षक लेख में उन्होंने बताया है कि दोहा, सोरठा, छप्पय, घनाक्षरी और सवैया का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका, अब इनके अतिरिक्त संस्कृत के अगणित वार्णिक छंद, हिन्दी के मात्रिक छंद तथा उर्दू के से विशेष प्रकार के छंद लिखे जाने चाहिए; तुकांतहीन कविता की ओर हिन्दी कवियों को अग्रसर होना चाहिए। अलंकारों के बलात् प्रयोग को दूषित बताकर उन्होंने समस्या पूर्तियों, नख-शिख-वर्णन और नायिकाभेद के स्थान पर आदर्श पुरुषों के चरित्र को लक्ष्य कर काव्य-रचना की सलाह दी। स्वच्छंद वादी आन्दोलन के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन कर द्विवेदी जी ने हिन्दी कविता को एक नई दिशा दी और स्वयं पथ-प्रदर्शन करते हुए उसके विकास का पथ प्रशस्त किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी आधुनिक हिन्दी साहित्य के सब से बडे निर्माता और आचार्य थे। इसी लिए १६०० से १६२० तक बीस वर्षों का युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी युग' के नाम से कहा जाता है। हिन्दी साहित्य में अभी तक इस प्रकार युगों का विभाजन नहीं हुआ है। हिन्दी का प्राचीन साहित्य जो ८०० वर्षों के लम्बे काल में फैला हुआ है, इतिहासकारों द्वारा केवल तीन व्यापक युगों में विभाजित किया गया है। इस कारण आधुनिक युग के बीस-पच्चीस वर्षों का युग-विभाजन और व्यक्ति विशेष पर उन युगों

का नामकरण कुछ विद्वानों को खटकता है। वास्तव में वह है भी खटकने वाली वस्तु। हिन्दी में समय समय पर महान् व्यक्तित्व के कवि उत्पन्न हुए हैं। यह हिन्दी का ही सौभाग्य है कि इस साहित्य में विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, केशव, बिहारी, देव और पद्माकर जैसे अद्भुत प्रतिभासम्पंन्न कवि हुए हैं, परंतु अभी तक इन महान् कवियों के नाम पर किसी युग का नामकरण नहीं हुआ। अस्तु, द्विवेदी जी के नाम पर एक युग का नामकरण कुछ अद्भुत-सा अवश्य लगता है; परंतु आधुनिक युग की परिस्थिति प्राचीन काल से बहुत कुछ भिन्न है। आज बीस वर्षों में जितनी प्रगति हुई है, जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जितने कागज रँगे गये उतना प्राचीन काल में एक सौ वर्षों में भी नहीं हो सका। मुद्रण यन्त्र तथा अन्य वैज्ञानिक सुविधाओं के कारण आज का बीस वर्ष वास्तव में एक युग बन गया है और आज की परिस्थिति में एक व्यक्ति का प्रभाव थोड़े समय में ही बहुत दूर तक पड़ सकता है। अस्तु, आधुनिक युग की विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर हम 'द्विवेदी युग' के नामकरण में कोई अनौचित्य नहीं समझते।

द्विवेदी जी की साहित्यिक कृतियों और उनके व्यापक प्रभाव में इतना अधिक अंतर है कि सहसा आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। उनकी साहित्यिक कृतियाँ परिमाण में कम नहीं हैं, परंतु उनका मूल्य विशेष नहीं है। उनकी रचनाओं में मौलिकता तो जैसे है ही नहीं। उनकी अधिकांश रचनाएँ अनुवाद मात्र हैं और जो अनुवाद नहीं हैं वे भी प्रायः किसी पुस्तक अथवा लेख के आधार पर लिखी

ई हैं। उनकी कविताएँ भी साधारण कोटि की हैं। उनकी गद्य-शैली भी विद्वानों में व्यास-शैली के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है। द्विवेदी जी के ही युग के दूसरे प्रतिभाशाली कवि और लेखकों के सामने उनकी कृतियाँ कुछ विशेष महत्त्व की नहीं ठहरतीं, इसलिए 'द्विवेदी युग' सुनकर कुछ विद्वान् सहसा आश्चर्य-चकित से रह जाते हैं। परंतु सच तो यह है कि द्विवेदी जी का महत्त्व मूल रूप में ऐतिहासिक है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस-पचीस वर्षों में हिन्दी क्षेत्र में सबसे अधिक प्रभावशाली और क्षमतासम्पन्न व्यक्तित्व द्विवेदी जी का ही था। हिन्दी की प्रगति में उन्होंने अपना सब कुछ दे डाला था, अपनी मौलिक सर्वतोमुखी प्रतिभा का उपयोग उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के लिए अर्पित कर दिया था, जैसे अपने लिए, अपनी भावी कीर्ति की रक्षा के लिए, कुछ भी बचा नहीं रखा। उनकी व्यास शैली, जिसका साहित्यिक मूल्य आज बहुत साधारण आँका जा रहा है, उस पिछड़े हुए युग में एक प्रभावशाली अस्त्र प्रमाणित हुआ था। साधारण अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनता और हिन्दी के प्रति उपेक्षाशील शिक्षित समाज को समझाने के लिए, उनको नया ज्ञान और नई प्रेरणा देने के लिए वह घरेलू व्यास शैली जादू का काम करती थी। उनकी साधारण कोटि की कविताओं का आज विशेष मूल्य नहीं रह गया है, परंतु आज से चालीस-पचास वर्ष पूर्व उन्हीं में कितनी संजीवनी शक्ति थी, कितना ओज और उत्साह भरा था। द्विवेदी जी का ऐतिहासिक मूल्य ही यथार्थ है, उनकी साहित्यिक कृतियों का स्वतंत्र मूल्य नहीं है।

द्विवेदी जी ने जो स्वयं इतनी महानता अर्जित की, और हिन्दी भाषा तथा साहित्य को जो महत्त्व प्रदान किया उसके मूल में उनका चरित्र-बल, उनका आत्मबल ही मुख्य था। प्रस्तुत संग्रह से पाठकों को द्विवेदी जी के चरित्र बल की एक झाँकी मिलेगी और मिलेगा उनकी साहित्य-सेवा का कुछ प्रसाद। विद्वान् सम्पादक ने द्विवेदी जी के असंख्य लेखों से चुनकर कुछ प्रतिनिधि लेख संग्रहीत किये हैं जिसमें उनका अगाध पांडित्य, उनकी अद्भुत लेखन-शैली, उनकी समालोचना-पद्धति, उनकी अध्ययनशीलता और उनके विशाल अनुभव का कुछ आभास मिल सकेगा। वास्तव में द्विवेदी जी के लेखों का एक ऐसा संक्षिप्त और प्रतिनिधि संग्रह बहुत दिन पहले ही हो जाना चाहिए था। साहित्याचार्य प्रभात मिश्र ने इस संग्रह द्वारा हमारे एक बड़े अभाव की पूर्ति की है जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

दुर्गाकुंड, काशी
वैशाख शुक्ल ६, २००६ वि०
श्रीकृष्ण लाल

वक्तव्य

आधुनिक हिन्दी के जनक स्व० आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के चुने हुए साहित्यिक निबंधों और उनकी आत्मकथा का यह संग्रह आज प्रकाशित करने में हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। ऐसे एक संग्रह की बड़ी आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। आशा है इससे वह कमी पूरी होगी तथा हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी भी इस पुस्तक से लाभ उठाएंगे।

—प्रकाशक

क्रम



आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी की आत्म कथा

मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूं।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्य्यं प्रचक्षते॥

आचार्यत्व की अनुपयुक्ति

यह लक्षण मुझ पर तो घटित होता नहीं, क्योंकि मैंने कभी किसी को इकाएक भी नहीं पढ़ाया। शंकराचार्य, माध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश्य किसी आचार्य के चरण रजः कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत-कालेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कभी कदम नहीं रक्खा। फिर इस पदवी का मुस्तहक़ मैं कैसे हो गया? विचार करने पर मेरी समझ में, इसका एकमात्र कारण मुझ पर कृपा करनेवाले सज्जनों का अनुग्रह ही जान पड़ता है। जो जिसका प्रेम-पात्र होता है उसे उसके दोष नहीं दिखाई देते। जहाँ दोष देख पड़ते हैं, वहाँ तो प्रेम का प्रवेश ही नहीं हो सकता। नगरों की बात जाने दीजिये, देहात तक में माता-पिता और गुरुजन अपने लूले, लँगड़े, काने, अन्धे, जन्म रोगी और महा कुरूप लड़कों का नाम श्यामसुन्दर, मनमोहन, चारुचन्द्र और नयन सुख रखते हैं। जिनके कब्जे में अंगुल भर ज़मीन नहीं वे पृथ्वीपति और पृथ्वीपाल कहाते हैं। जिनके घर में टका नहीं वे करोड़ मल कहे जाते हैं। मेरी आचार्य-पदवी भी कुछ-कुछ इसी तरह की है, पर इससे पदवी-दाताजनों का जो भाव प्रकट होता है उसका अभिनन्दन मैं हृदय से करता हूं। यह

पदवी उनके प्रेम, उनके औदार्य, उनके वात्सल्य-भाव की सूचक है। अतएव प्रेमपात्र मैं अपने इन सभी उदाराशय प्रेमियों का ऋणी हूँ। बात यह है कि—

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि

अर्थात् गुणों का सबसे बड़ा आधार प्रेम होता है, वस्तु विशेष नहीं। जो जिसपर कृपा करता है—जिसका प्रेम जिसपर होता है—वह उसे आचार्य क्या यदि जगद्‌गुरु समझ ले तो आश्चर्य की बात नहीं।

अहंकार का निरसन

तथापि, मेरी धृष्टता क्षमा की जाय, मुझे ऐसी बातों से स्तुति और प्रशंसा से बहुत डर लगता है, क्योंकि वे अहंकार को जन्म देने वाली ही नहीं, उसे बढ़ाने वाली भी हैं; और इस अहंकार-नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूं। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर नहीं ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर-सन्धान किया, कभी किसी ग्रन्थकार या ग्रन्थ-प्रकाशक पर अपना रोब जमाया। उस जमाने में मेरी क्या हालत थी और अब क्या, इसका निदर्शन भर्तृहरि ने बहुत पहले ही कर रक्खा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजन सकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जब मुझमें ज्ञान की कुछ यों ही जरा सी झलक थी तब मैं मदान्ध हाथी सा हो रहा था—तब मुझमें अहंकार की मात्रा इतनी अधिक थी कि मैं अपने को सर्वज्ञ समझता था। परन्तु किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से जब मुझे कुछ विज्ञ विद्वानों की संगति नसीब हुई और

जब मैंने प्रकृत पंडितों की कुछ पुस्तकों का मनन किया, तब मेरी आँखें खुल गईं, तब मेरा सारा अहंकार चूर्ण हो गया। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं तो महामूर्ख हूँ। नतीजा यह हुआ कि मेरी झूठी सर्वज्ञता का वह नशा उसी तरह उतर गया जिस तरह कि १०४ डिग्री तक चढ़ा हुआ ज्वर उतर जाता है।

मेरी झूठी विज्ञता के आवेश ने, मुझसे पूर्वावस्था में, अनेक अनुचित काम करा डाले। उस दशा में मुझसे जो दुष्कृत्य हो गये, उन्होंने मेरी आत्मा को कलुषित कर दिया। उन्होंने उसपर काला पर्दा सा डाल रक्खा है। इस कारण मैं थोड़ा सा प्रायश्चित्त करके उस पर्दे के बहुत न सही, थोड़े ही अंश को हटा देना चाहता हूँ।

शठ सेवक मैं, चर अचर आप सभी भगवान।
दीन हीन मुझको अधम समझो दयानिधान॥

अब मेरी आत्म-शुद्धि के लिये आप भी मुझे आज्ञा दीजिये :—

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु हित्वा,
सेवासुधारसमहो नितरां पिबत्वम्।

अहंकार की व्याप्ति से बचने ही के लिये मैंने आजतक, आमन्त्रित होने पर भी, साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को स्वीकार नहीं किया। अनेक महानुभावों ने जिस आसन की शोभा बढ़ाई उसी पर बैठना मेरे लिये बहुत बड़ी गुस्ताखी भी होती।

मैं क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। परन्तु मैं क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रों और कृपालु हितैषियों को बहुत ही कम है। उन्होंने मुझे अनेक पत्र लिखे हैं, अनेक उलाहने दिये हैं। अनेक प्रणयानुरोध किए हैं, वे चाहते हैं कि मैं अपनी जीवन-कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्ण-रूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझमें नहीं। अपनी कथा कहते मुझे संकोच भी बहुत होता है। उसमें कुछ तत्व भी तो नहीं। उससे कोई कुछ सीख भी तो नहीं सकता। तथापि जिन सज्जनों ने मुझे अपना कृपापात्र बना लिया

है उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी धृष्टता होगी। अतएव मैं अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातें, सूत्र रूप में सुना देना चाहता हूँ। बड़े बड़े लोगों ने, इस विषय में मेरे लिए मैदान पहले ही से साफ भी कर रक्खा है!

जीवन कथा

मैं एक ऐसे देहाती का एक मात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन सिर्फ १०) था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी सी उर्दू और घर पर थोड़ी सी संस्कृत पढ़ कर १३ वर्ष की उम्र में, मैं ३६ मील दूर, रायबरेली के जिला स्कूल में अँगरेजी पढ़ने गया। आटा, दाल घर से पीठ पर लाद कर ले जाता था। दो आने महीने फीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका करके पेट-पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। संस्कृत भाषा उस समय उस स्कूल में वैसे ही अछूत समझी गई थी जैसी कि मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र-जाति समझी जाती है। विवश होकर अँगरेजी के साथ फारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ कटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।

रेलवे में नौकरी

एक साल अजमेर में १५) महीने पर नौकरी करके, पिता के पास बम्बई पहुँचा और तार का काम सीख कर जी० आई० पी० रेलवे में ५०) महीने पर तार बाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षितजनों की संगति करने की ओर थी, दैवयोग से हरदा और हुशंगाबाद में मुझे ऐसी संगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धान्त या आदर्श निश्चित किए। यथा (१) वक्त की पाबन्दी करना, (२) रिश्वत न लेना, (३) अपना काम ईमानदारीसे करना और

(४) ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत् प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था। पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था। तथापि सतत अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तार बाबू होकर भी, टिकट बाबू, माल बाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करानेवले प्लेटलेयर (Permanent way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नज़र मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे छोड़ कर मुझे कभी तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी। जब इंडियन मिडलैंड रेलवे बनी और उसके दफ़्तर झाँसीमें खुले तब जी० आई० पी० रेलवे के मुलाजिम जो साहब वहाँ, के जनरल ट्राफिक मैनेजर मुकर्रर हुए, वे मुझे भी अपने साथ झांसी लाये और नये नये काम मुझसे लेकर मेरी पदोन्नति करते गए। इस उन्नति का प्रधान कारण मेरी ज्ञान-लिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुण-ग्राहकता थी। दस-बारह वर्ष बाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब इंडियन मिडलैंड रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई, तब कुछ दिन बम्बई में रह कर मैंने अपना तबादिला झाँसी को करा लिया। वहीं रहना मुझे अधिक पसन्द था। पाँच वर्ष में वहाँ डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट के दफ़्तर में रहा। वे दिन मेरे अच्छे नहीं कटे। लार्ड कर्जन का देहली-दरबार उसी ज़माने मे हुआ था। मेरे गौरांग प्रभु अपनी रातें अपने बँगले या क्लब में बिताते थे। मैं दिन भर दफ़्तर का काम करके रात भर, अपनी कुटिया में पड़ा हुआ, उनके नाम आये हुए तार लेता और उनके जवाब देता था। ये तार उन स्पेशल रेल गाड़ियों के सम्बन्ध में होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौड़ा करती थीं। उन चाँदी के टुकड़ों की बदौलत जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किए गए इस अत्याचार को महीनों बर्दाश्त किया।

मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूँगा तो उससे मेरी सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है; पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता।

नौकरी से त्यागपत्र परन्तु कुछ समयोपरान्त बानक कुछ ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर भी अत्याचार कराना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह ८ बजे दफ़्तर में आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज मेरे मेज़ पर मुझे रक्खे मिलें। मैंने कहा, मैं आऊँगा पर औरों को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है। बस बात बढ़ी और बिला किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं, सिफारिशें तक की गईं। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापस लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्ण होकर कहा, "क्या थूक कर भी उसे कोई चाटता है?" मैं बोला, नहीं, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने तो ॥) रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह कार्य चलाने का दृढ संकल्प किया और मैंने, 'सरस्वती' की सेवा से मुझे हर महीने जो २०) उजरत और ३) डाक खर्च की आमदनी होनी थी उसी से संतुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा-किसी समय तो मुझे महीने में १५) ही मिलते थे; २३) तो उसके ड्योढ़े से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नहीं।

मेरे पिता ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक पलटन में सैनिक या सिपाही थे। मामूली हिन्दी पढे लिखे थे। बड़े भक्त थे। सिपाहियाने काम से छुट्टी पाने पर राम-लक्ष्मण की

मेरे पूर्वज पूजा किया करते थे। इसी से साथी सिपाहियोंने उनका नाम रक्खा था—लछिमनजी। गदर में पिता की पलटन बागी हो गई। जो बच निकले वे बच गये। बाकी जवान तोपों से उड़ा दिये गये। पलटन उस समय होशियार पुर (पंजाब) में

थी। पिता ने भाग कर अपना शरीर सतलज की वेगवती धारा को अर्पण कर दिया। एक या दो दिन बाद बेहोशी की हालत में, सैकड़ों कोस दूर, आगे की तरफ, कहीं वे किनारे लग गये। होश आने पर सँभले और हरी मोटी घास के तिनके चूस-चूस कर कुछ शक्ति सम्पादन की। माँगते-खाते, साधुवेश में, कई महीने बाद, वे घर आये। घर पर कुछ दिन रहकर, इधर उधर भटकते हुए, वे बम्बई पहुँचे। वहाँ वल्लभ सम्प्रदाय के एक गोस्वामीजी के यहाँ वे नौकर हो गए। इस तरह वहाँ भी उन्हें ठाकुरजी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे समर्थ होने तक वे इसी सम्प्रदाय के गोस्वामियों की मुलाजिमत में रहे। फिर सदा के लिये उसे छोड़ कर घर चले आये।

मेरे पितामह अलबत्ते संस्कृतज्ञ थे और अच्छे पंडित भी थे। बंगाल की छावनियों में स्थिति पलटनों को वे पुराण सुनाया करते थे। उनकी उनकी एकत्र की हुई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें बेंच बेंच कर मेरी पितामही ने मेरे पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो-चार पुस्तकें मुझे भी घर में पड़ी मिलीं। मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाम मात्र को हिन्दी तथा कैथी जानते थे। पर उनमें नये नये किस्से बनाकर कहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली जिले में दीनशाह के गौरा के तत्कालीन तअल्लुकेदार, भूपालसिंह के यहाँ किस्से सुनाने के लिये वे नौकर थे। मेरे नाना और एक मामा भी संस्कृतज्ञ थे। मामा की संस्कृतज्ञता का परिचय स्वयं मैंने, उनके पास बैठकर, प्राप्त किया था।

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे हुआ—पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्व-जन्म के कृत कर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग

साहित्य प्रेम

तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिये थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र के कवि-वचन-सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहाँ मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाज़िम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था। मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों का त्यों बना रहा। झाँसी आने पर जब मैंने, पंडितों की कृपा से, प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छन्दोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिये छुट्टी ले ली। पर गद्य में कुछ न कुछ लिखना जारी रक्खा। संस्कृत और अँगरेज़ी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किये।

इंडियन प्रेस से परिचय

जब मैं झाँसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमें बहुत-से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थी। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था, प्रयाग का इंडियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इंडियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा। किसी ने लिखा—मैं तुम्हारे साथ बैठ कर संस्कृत

पढ़ूँगा। किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिये एक छापाखाना खुलवा दूँगा—इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आप के सहायतादान की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा—अव्यवस्थित चित्त मनुष्य की सफलता में सदा सन्देह रहता है। क्यों न मैं अङ्गीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ। प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव सब तज हरि भज की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इंडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा-बहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उससे अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से 'सम्पत्ति शास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।

मेरी रसीली पुस्तकें

उस समय तक मैंने जो कुछ लिखा था उससे मुझे रुकों की प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हाँ, ग्रन्थकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियाँ मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद ली थीं, उनसे मेरे गर्वकी मात्रामें बहुत कुछ इजाफा जरूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होंने कहा—अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों। रुपये का लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चकमें में आ गया। योरप और अमेरिका तक में प्रकाशित पुस्तकें मँगा कर पढ़ीं। संस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफे की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रक्खा तरुणोपदेश। मित्रों ने उसे देखा। कहा, अच्छी तो है, पर इसमें सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम ही सुनकर और विज्ञापन मात्र ही पढ़कर खरीदार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गन्दगी पर मक्खियों के झुण्ड के झुण्ड टूटते हैं। कामकला लिखो, काम किल्लोल

लिखो, कन्दर्प दर्पण लिखो, रति रहस्य लिखो, मनोज-मंजरी लिखो, अनङ्ग रङ्ग लिखो। मैं सोच विचार में पड़ गया। बहुत दिनों तक चित्त चलायमान रहा। अन्त में जीत मेरे मित्रों ही की रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसन्द न आये। मैं उनके भी बाँस भर आगे बढ़ गया। कवि तो मैं था ही, मैंने चार चार चरण वाले लम्बे लम्बे छन्दों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली—ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीस चालीस साल पहले की बात कह रहा हूँ। आजकल की नहीं। आजकल तो वह नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। अपने बूढ़े मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से, आपके सामने, उस नाम का उल्लेख करते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी। पर पापों का प्रायश्चित करने के लिए आप पञ्च समाजरूपी परमेश्वर के सामने, शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही पड़ेगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—सोहागरात। उसमें क्या है। यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नहीं, क्योंकि—

परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः

मेरे मित्रों ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसन्द किया, उसे बहुत नरस पाया। अतएव उन्होंने मेरी पीठ खूब ठोंकी। मैंने भी अपना परिश्रम सफल समझा। अब लगा मैं हवाई किले बनाने। पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्ति पूर्वक बेचूँगा। मेरे घर रुपयों की वृष्टि होने लगेगी। शीघ्र ही मैं मोटर नहीं, तो एक विक्टोरिया खरीद कर उस पर हवा खाने निकला करूँगा। देहात छोड़ कर दशाश्वमेध घाट पर कोई तिमंजिला मकान बनवा कर या मोल लेकर वहीं काशीवास करूँगा। कई कर्मचारी रक्खूँगा। अन्यथा हाजरों वेल्यू-पेयेबिल कौन भेजा करेगा।

परन्तु अभागियों के सुख-स्वप्न सच्चे नहीं निकलते। मेरे हवाई महल एक पल में ढह पड़े। मेरी पत्नी कुछ पढ़ी लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनों पुस्तकें मैंने लिखी थीं। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देख ही नहीं, उलट पलट कर उसने पढ़ा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराला काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास-रूपी इतने कड़े कशाघात किये कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन दोनों पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या कालेपानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गईं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस दायमुलहब्स से हुआ। छूटने पर मैंने उन्हें एकान्त-सेवन की आज्ञा दे दी है। क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें नहीं। इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पङ्क-पयोधि में डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो बड़ी कृपा हो। इसी से मैंने इस बहुत कुछ अप्रासङ्गिक विषय के उल्लेख की यहाँ जरूरत समझी।

सरस्वती के सम्पादन में मेरे आदर्श

'सरस्वती' के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किए। मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबन्दी करूँगा। (२) मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूँगा, (३) अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख्याल रक्खूँगा और (४) न्याय-पथ से कभी न विचलित हूँगा। इसका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, संक्षेप में, सुन लिजीये :—

(१) सम्पादकजी बीमार हो गये, इस कारण 'स्वर्ग समाचार' दो हफ्ते बन्द रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गये; लाचार 'विश्वमोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है। 'प्रलयङ्करी' पत्रिका के विधाता का फौंटनपेन टूट गया। उसके मातम में १३ दिन काम बन्द रहा। इसी से पत्रिका के प्रगटन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई। क्या किया जाता। 'त्रिलोकमित्र' का

यह अंक, इसी से, समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा—मैं इन बातों का कोयल नहीं। प्रेस की मशीन टूट जाय तो उसका जिम्मेदार मैं नहीं। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी जान होम कर किया। चाहे पूरा का पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँ तक किया कि कम से कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रक्खी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ तो क्या हो? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बन्द रखना क्या ग्राहकों के साथ अन्याय करना न होगा? अस्तु मेरे कारण, सोलह सत्रह वर्ष के दीर्घ काल में, एक बार भी सरस्वती का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा तब भी मैंने नये सम्पादक को बहुत से बचे हुए लेख अर्पण किए। उस समय के उपार्जित और अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

(२) मालिकों का विश्वास-भाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई। 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफे अलबत्ते मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बँगले पर हाज़िर होना पड़ा। पर मैं भूल से तलब किया गया था। एक गैर-क़ानूनी लाटरी का विज्ञापन 'सरस्वती' में निकल गया था। उसी के संबंध में मजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापनों की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया और मालिकों का मैं जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया, वैसे ही वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया। और मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवङ्गत बाबू चिन्तामणि घोष

की उदारता ही अधिक कारणीभूत था। उन्होंने मेरे सम्पादन-स्वातंत्र में कभी बाधा नहीं डाली। वे मुझे अपना कुटुम्बी सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते हैं।

(३) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ तक हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं, पर उस समय एक मात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओं की रानी नहीं, पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छपाना या किसी के जीवन-चरित्र आदि प्रकाशन कराना ज़रा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी कभी बड़े बड़े प्रलोभन दिए जाते थे। कोई कहता मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई, अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जायगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हज़म कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' में वही मसाला जाने देता जिससे मैं पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी रुचि का सदैव ख्याल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको, सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन-द्वारा लेखों की भाषा अधिक-संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फ़ारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ़ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

(४) 'सरस्वती' में प्रकाशित मेरे लघु लेखों (नोटों) और आलोचनाओं ही से सर्वसाधारण जन इस बात का पता लगा सकते हैं कि मैंने

कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालांतर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत् सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क विकार-ग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्ति-सम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रम-पूर्वक, बड़े उत्साह से सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही साहित्य-निर्माण के आडंबर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठा कर जरा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक तथा राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी

जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है, जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पदाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी ओषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठाने वाला और उत्थितों के मस्तक का उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता, अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाज द्रोही है, वह देश द्रोही है, वह जाति द्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है। जैसे जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अँगरेज़ी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द जरूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलने वाले जब होश में

आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इँगलैंड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के माया-जाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं, कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ-रचना करने का विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूडांत ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-रचना करने पर भी विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधर्म की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिए। नहीं आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए। द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए। ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोक भाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना सभी दृष्टियों से हमारा परम धर्म है।

कविता

हँसना, रोना, क्रोध करना और विस्मित होना आदि व्यापार मनुष्यों में आप ही आप उत्पन्न होते हैं। उन व्यापारों के लिए जो सामग्री दरकार होती है उस सामग्री के यथा-समय प्राप्त होते ही वे व्यापार आप ही आप आविर्भूत हो जाते हैं। इसके लिए और कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कविता का भी प्रकार ऐसा ही है। अन्त:—करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं; अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। वही कविता है। चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक। शब्दात्मक मनोभाव अपनी शक्ति के अनुसार सुनने वाले पर अपना प्रभाव जमाते हैं। कथा, पुराण अथवा संकीर्तन आदि के समय भक्ति-भाव-पूर्ण पदों को सुन कर कोई कोई प्रेमी आनन्द में लीन हो जाते हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है; यहाँ तक कि वे अपने को भूल जाते हैं। परन्तु वहीं पर, उनके पास ही बैठे हुए कोई कोई महात्मा, निकटस्थ नटखट लड़कों की शरारत देखकर हँसते रहते हैं; किंवा ऊँघा करते हैं। इसका यह कारण है कि उन पदों में भरे हुए भक्तिरस का स्वीकार अथवा उपभोग करने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। खून के समान भारी घटनायें जिस जगह हो जाती हैं, उस जगह सब समवयस्क मनुष्य घबरा उठते हैं; परन्तु तीन चार वर्ष के छोटे छोटे

लड़के वहाँ आनन्द से खेला करते हैं। उन पर उस घटना का कुछ भी असर नहीं होता। अज्ञान के कारण ख़ून के समान भयानक घटनाओं की भयङ्करता का विचार ही जब उन लड़कों के मन में नहीं आता तब उनको उस विषय में भय कैसे मालूम हो सकता है?

कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द-स्वरूप देते हैं कि उन शब्दों के सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जाग्रत हो उठता है। ऐसा होना बहुत कठिन है। सच तो यह है कि काव्य-रचना में सबसे बड़ी कठिनता जो है वह यही है। रामचन्द्र और सीता को हुए कई युग हुए। तुलसीदास को भी आज कई सौ वर्ष हुए। परन्तु उनके काव्य में किसी किसी स्थान पर इतना रस भरा हुआ है कि उस रस के प्रवाह में पड़कर बहे बिना सहृदय मनुष्य कदापि नहीं बच सकते। रामचन्द्र के वन-गमन-समय सीता कहती हैं :—

प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिन रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक समान॥

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।
प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सुजन सहाई।
सुठि सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय-बिनु तियहिं तरनि ते ताते॥
तनु धन धाम धरनि पुर राजू।
पति-बिहीन सब सोक-समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू।
जम-जातना सरिस संसारू॥

प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं।
मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।
सरद-बिमल-बिधु-बदन निहारे॥

खग मृग परिजन नगर बन, बलकल- बसन दुकूल।
नाथ साथ सुर-सदन-सम, परनसाल सुखमूल॥

बनदेवी बनदेव उदारा।
करिहँ सासु ससुर सम सारा॥
कुस-किसलय साथरी सुहाई।
प्रभु सँग मञ्जु मनोज तुराई॥
कन्द मूल फल अमिय अहारू।
अवध सौध सत सरिस पहारू॥
छिनु छिनु प्रभु-पद-कमल बिलोकी।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥
बन दुख नाथ कहे बहुतेरे।
भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु-बियोग लवलेस समाना।
सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
अस जिय जानि सुजान-सिरोमनि।
लेइय संग मोहिं छाँड़िय जनि॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी।
करुनामय उर-अन्तरयामी॥

राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिअहि प्रान।
दीनबन्धु सुन्दर सुखद, सील-सनेह-निधान॥

यह पढ़ते अथवा सुनते समय सुनने वाले के हृदय में सीता की धर्मिष्ठता और पतिपरायणता-विषयक भाव थोड़ा बहुत उद्दीत या जाग्रत हुए बिना कभी नहीं रह सकता।

एक और उदाहरण लीजिए। पंडित श्रीधर पाठक द्वारा अनुवादित 'एकान्तवासी योगी' में वियोगिनी, पथिक-वेश-धारिणी अंजलेना अपने प्रियतम एडविन से उसी के विषय में इस प्रकार कहती है :—

पहुँचा उसे खेद इससे अति,
हुआ दुखित अत्यन्त उदास,
तज दी अपने मन में उसने
मेरे मिलने की सब आस।
मैं यह दशा देखने पर भी,
ऐसी हुई कठोर।

करने लगी अधिक रूखापन,
दिन दिन उसकी ओर।
होकर निपट निराश अन्त को
चला गया वह बेचारा;
अपने उस अनुचित घमंड का
फल मैंने पाया सारा।
एकाकी में जाकर उसने,
तोड़ जगत् से नेह,
खोकर हाय प्रीति मेरी से,
त्याग दिया निज देह।

किन्तु प्रेमनिधि, प्राणनाथ को
भूल नहीं मैं जाऊँगी;
प्राणदान के द्वारा उसका
ऋण मैं आप चुकाऊँगी।

उस एकान्त ठौर को मैं, अब
ढूँढ़ूँ दिन रैन;
दुख की आग बुझाय जहाँ पर
दूँ इस मन को चैन।

जाकर वहाँ जगत् को मैं भी,
उसी भाँति बिसराऊँगी,
देह गेह को देय तिलाञ्जलि,
प्रिय से प्रीति निभाऊँगी।

मेरे लिए एडविन ने ज्यों,
किया प्रीति का नेम;
त्योंही मैं भी शीघ्र करूँगी
परिचित, अपना प्रेम।

इसमें अंजलेना के पवित्र प्रेम और उसकी भूल के पश्चात्ताप-सम्बन्धी रस को कवि ने अपने हृदय में लेकर शब्दों के द्वारा बाहर बहाया है। वह रस-प्रवाह सुननेवालों के अन्तःकरण में प्रवेश करके उपरति उत्पन्न करता है, जिसके कारण हृदय गद्गद हो उठता है और किसी किसी के आँसू तक निकलने लगते हैं। इसी का नाम कविता-शक्ति है। ऐसी ही उक्तियों को कविता कहते हैं।

एक तत्वज्ञानी ने तो यहाँ तक कहा है कि रस-परिपक्वता ही कविता है। उसे मुख से कहने की आवश्यकता नहीं और काग़ज़ पर लिखने की भी आवश्यकता नहीं। यदि नट रंग भूमि में उपस्थित होकर, अपना मुँह ऊपर की ओर उठाकर और गर्दन हिलाकर, सभासदों को हँसा दे तो उसके उस व्यापार को भी कविता कहना होगा। आजकल के विद्वानों का मत है कि अन्तःकरण में रस को उत्पन्न करके, और थोड़ी देर के लिए और बातों को भुलाकर, उदार विचारों में मन को लीन कर देना ही कविता का सच्चा पर्य्यवसान है। कविता

द्वारा यह भासित होना चाहिए कि जो बात हो गई है वह अभी हो रही है, और जो दूर है वह बहुत निकट दिखलाई देती है।

एक पण्डित का मत है कि कविता एक भ्रम है; परन्तु वह सुखदायक है। उसका अच्छी तरह उपभोग लेने के लिए थोड़ी देर तक अपनी सज्ञानता भूल जानी चाहिए; जो कुछ सीखा है उसका भी विस्मरण कर डालना चाहिए; और कुछ काल के लिए बालक बन जाना चाहिए। कमल के समान आँखें नहीं होतीं; कोकिल सा कण्ठ किसी का नहीं होता; जो कुछ इसमें लिखा है, झूठ है—इस प्रकार की बातें मन में आते ही कविता का सारा रस जाता रहता है। कविता में जो कुछ कहा गया है उसे ईश्वर-वाक्य मानकर उसका रस लेना चाहिए।

आजकल के इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि देश में जैसे जैसे अधिक सुधार होता जाता है और जैसे जैसे विद्या-बुद्धि बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे कविता-शक्ति भी कम होती जाती है। अब पहले के से अच्छे कवि नहीं होते—यह इस बात का प्रमाण है। यह बहुत ठीक है कि ज्यों ज्यों हम प्राचीन काल की ओर देखते हैं त्यों त्यों कविता विशेष रसाल दिखाई देती है। प्राचीन कवियों का सारा ध्यान अर्थ की ओर रहता था; भाषा की ओर बहुत ही कम रहता था। इसी लिए उनकी कविता में उनका हृद्गत भाव बहुत ही अच्छी तरह से ग्रथित हो जाता है। परन्तु उनके अनन्तर होनेवाले कवियों में प्रबन्ध, शब्द-रचना और अलङ्कार आदिकों की ओर ध्यान अधिक जाने से कविता में अर्थ सम्बन्धी हीनता आ गई है। एक बात और भी है। कविता के लिए एक प्रकार की भावुकता, एक प्रकार की सात्त्विकता और एक प्रकार का भोलापन दरकार होता है। यह समय के परिवर्तन से प्रतिदिन कम होता जाता है। इसी लिए पहले की सी कविता अब नहीं होती। और प्राचीन कवियों की कविता के उत्तम होने का एक कारण यह भी है कि किसी प्रकार की आशा के

वशीभूत होकर वे कविता न करते थे। यह बात अब बहुत कम पाई जाती है। कविता में हीनता आने का यह भी एक कारण है।

कविता से विश्रान्ति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम-स्थान है। उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है। चक्की पीसने के समय स्त्रियाँ, काम करने के समय मज़दूर आदि परिश्रम कम होने के लिए गीत गाते हैं। जैसे मनुष्यों के लिए गाने की ज़रूरत है वैसे ही देश के लिए कविता की ज़रूरत है। प्रति दिन नये गीत बनते हैं और सब कहीं गाये जाते हैं। इसी नियमानुसार देश में, समय-समय पर, नई-नई कवितायें हुआ करती हैं। यह स्वाभाविक किंवा नैसर्गिक योजना है।

सरस्वती-देवी के क्रिया-मातृका-मन्त्र का जप करना, उसकी मूर्ति का ध्यान करना और उसके मन्त्र का पूजन करना इत्यादि दिव्य उपाय हैं। पौरुषेय उपाय यह है कि किसी अच्छे कवि को गुरु बनाकर उससे यथाविधि काव्य-शास्त्र का अध्ययन करना।

कवित्व-शक्ति

कवि बनने की इच्छा से काव्य-शास्त्र का अध्ययन करने वाले शिष्य तीन प्रकार के होते हैं—अल्प-प्रयत्न-साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य।

थोड़े ही अध्ययन से जो सफल-मनोरथ हो जायँ वे अल्प-प्रयत्न-साध्य; अध्ययन में विशेष परिश्रम करने से जिन्हें इष्ट लाभ हो वे कृच्छ्र-साध्य; जो बरसों सिर पीटने पर भी कुछ न कर सकें वे असाध्य समझे जाते हैं।

अल्प-प्रयत्न-साध्य शिष्यों के कर्त्तव्य सुनिए।

ऐसे पुरुषों को चाहिए कि वे किसी अच्छे साहित्य-ज्ञाता कवि से अध्ययन करें। जो केवल तार्किक या वैयाकरण हो उससे सदा दूर रहें। जो सरस-हृदय हो, स्वयं कवि हो, व्याकरण भी जानता हो, छन्दोग्रन्थों का भी पारगामी हो उसे गुरु बनाना चाहिए। अच्छे-अच्छे काव्यों को उसके मुख से सुनना चाहिए। गाथा, प्राकृत तथा अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं के पद्यों का भी सावधान श्रवण करना चाहिए। चमत्कार-पूर्ण उक्तियों के विषय में चर्चा करनी चाहिए। प्रत्येक रस के आस्वादन में तन्मनस्क हो जाना चाहिए। जहाँ जिस गुण का प्रकर्ष हो वहाँ अभिनन्दन करके आनन्दित होना चाहिए। विवेक बुद्धि द्वारा भले-बुरे काव्य को पहिचानने की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा करते-करते कुछ दिनों में कवित्व-शक्ति अंकुरित हो उठती है और उस शक्ति से सम्पन्न होने पर कविता करने की योग्यता आ जाती है।

कृच्छ्र-साध्य जनों को चाहिए कि कालिदास आदि सत्कवियों के सारे प्रबन्धों को आद्यन्त पढ़ें और खूब विचार-पूर्वक पढ़ें। इतिहासों का भी अध्ययन करें। तार्किकों से दूर ही रहें। कविता के मधुर सौरभ को उनसे नष्ट होने से बचाते रहें। अभ्यास के लिए कोई नया पद्य लिखे तो महाकवियों की शैली को सदा ध्यान में रक्खें। पुराने कवियों के श्लोकों के पाद, पद और वाक्य आदि को निकालकर उनकी जगह पर अपने बनाये पाद, पद और वाक्य रक्खें। अभ्यास बढ़ाने के लिए वाक्यार्थ-शून्य पद्य बनावें। कभी कभी अन्य कवियों की रचना में फेर-फार कर के, कुछ अपना कुछ उनका रखकर, नूतन अर्थ का समावेश करने की चेष्टा करें।

जो लोग किसी बड़े रोग से पीड़ित हैं, व्याकरण और तर्कशास्त्र के सततभ्यास से जिनकी सहृदयता नष्ट हो गई है, अतएव सुकवियों की कविता सुनने से भी जिन्हें कुछ भी आनन्द नहीं प्राप्त होता, उन्हें असाध्य समझना चाहिए। उनका हृदय पत्थर के समान कड़ा हो जाता है; उसकी कोमलता बिलकुल ही जाती रहती है।

न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

काव्य के अंगों का ज्ञान प्राप्त करे; सत्कवियों की संगति करे; महा-कवियों के काव्यार्थ का विचार किया करे; प्रसन्न चित्त रहे; अच्छे

शिक्षा

वेश में रहा करे; नाटकों का अभिनय देखे; गाना सुनने का शौक रक्खे; लोकाचार का ज्ञान प्राप्त करे; इतिहास देखे; चित्रकारों के अच्छे अच्छे चित्रों और शिल्पियों के अच्छे अच्छे शिल्पकार्यों का अवलोकन करे; वीरों का युद्ध देखे; श्मशान और अरण्य में घूमे और आर्त्त तथा दुखी मनुष्यों के शोक-प्रलाप - पूर्ण वचन सुने। इन सब बातों से शिक्षा प्राप्त करना उसके लिए बहुत ज़रूरी है।

परन्तु इतनी ही शिक्षा बस नहीं। और भी उसे बहुत कुछ करना चाहिए। उसे मीठा और स्निग्ध भोजन करना चाहिए; धातुओं को सम रखना चाहिए; कभी शोक न करना चाहिए; दिन में कुछ सो लेना चाहिये और थोड़ी रात रहे जागकर अपनी प्रतिभा को प्रखर करना चाहिए। उस समय कुछ कविता करनी चाहिए; प्राणियों के स्वभाव की परीक्षा करनी चाहिए; समुद्र-तट और पर्वतों की सैर करनी चाहिए; सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों के स्थान और उनकी गति आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; सब ऋतुओं की विशेषता और उनका भेद समझना चाहिए; सभाओं में जाना चाहिए;एक बार लिखी हुई कविता का संशोधन दो तीन दफ़े करके उसे खूब परिमार्जित करना चाहिए।

सुकवि होने की इच्छा रखने वाले के लिए अभी और भी बहुत से काम हैं। उसे पराधीनता में न रहना चाहिए; अपने उत्कर्ष पर गर्व न करना चाहिए; पराये उत्कर्ष को सहने की आदत डालनी चाहिए; दूसरे की श्लाघा सुनकर उसका अभिनन्दन करना चाहिए; अपनी श्लाघा सुनने में सङ्कोच करना चाहिए; व्युत्पत्ति के लिए—शिक्षा या विद्यावृद्धि के लिए—सब की शिष्यता स्वीकार करने को तैयार रहना चाहिए; सन्तुष्ट रहना चाहिए; सत्त्वशील बनना चहिए;

किसी से याच्ञा न करनी चाहिए; ग्राम्य और अश्लील बात मुँह से न निकालनी चाहिए; निर्विकार रहना चाहिए; गाम्भीर्य्य धारण करना चाहिए; दूसरे के द्वारा किये गये आक्षेप सुनकर बिगड़ना न चाहिए; और किसी के सामने दीनता न दिखानी चाहिए।

इन शिक्षाओं या उपदेशों पर विचार करने से पाठकों को मालूम होगा कि कवि-कर्म कितना कठिन है। विधाता की सारी सृष्टि का ज्ञान कवि को होना चाहिए—लोक में जो कुछ है सबसे उसे अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों को ख़ुद देखना चाहिए और प्राणियों के स्वभाव से भी उसे परिचित होना चाहिए। ये सब बातें इस समय कौन करता है? फिर कहिए, कोई कवि कैसे हो सकता है? पिंगल पढ़ लेने से यदि कोई कवि हो सकता तो आजकल कवि गली गली मारे मारे फिरते। तुकबन्दी करना और चीज़ है, कविता करना और चीज़।

शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है—

"नहि चमत्कारविरहितस्य कवेःकवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्"

चमत्कारोत्पादन

यदि कवि में चमत्कार पैदा करने की शक्ति नहीं तो वह कवि कवि नहीं। और, यदि चमत्कार-पूर्ण नहीं तो काव्य का काव्यत्व भी नहीं। अर्थात् जिस गद्य या पद्य में चमत्कार नहीं वह काव्य या कविता की सीमा के भीतर नहीं आ सकता—

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम्॥

काव्य चाहे कैसा ही निर्दोष क्यों न हो, उसके सुवर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यों न—यदि उसमें अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कार-पूर्ण पद न हुआ तो वह, स्त्रियों के लावण्य- हीन यौवन के समान, चित्त पर नहीं चढ़ता।

कविता में चमत्कार लाना लाख पिंगल पढ़ने और रस, ध्वनि तथा अलंकारादि के निरूपक ग्रन्थों के पारायण से सम्भव नहीं। उसके लिए प्रतिभा, साधन, अभ्यास, अवलोकन और मनन की ज़रूरत होती है। पिंगल आदि का पढ़ना एक बहुत ही गौण बात है।

एक विरहिणी अशोक को देखकर कहती है—तुम ख़ूब फूल रहे हो; लतायें तुम पर बेतरह छायी हुई हैं; कलियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं; भ्रमर के समूह जहाँ तहाँ गुञ्जार कर रहे हैं। परन्तु मुझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं। इसे हटाओ। मेरा प्रियतम मेरे पास नहीं। अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं।

इस उक्ति में कोई विशेषता नहीं—इसमें कोई चमत्कार नहीं। अतएव इसे काव्य की पदवी नहीं मिल सकती। अब एक चमत्कार-पूर्ण उक्ति सुनिए। कोई वियोगी रक्ताशोक को देखकर कहता है—नवीन पत्तों से तुम रक्त (लाल) हो रहे हो; प्रियतमा के प्रशंसनीय गुणों से मैं भी रक्त (अनुरक्त) हूं। तुमपर शिलीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं; मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आ रहे हैं। कान्ता के चरणों का स्पर्श तुम्हारे आनन्द को बढ़ाता है; उसके स्पर्श से मुझे भी परमानन्द होता है, अतएव हमारी तुम्हारी दोनों की अवस्था में पूरी पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही कि तुम अशोक हो और मैं सशोक। इस उक्ति में सशोक शब्द रखने से विशेष चमत्कार आगया। उसने 'अनमोल रत्न' का काम किया। यह चमत्कार किसी पिंगल-पाठ का प्रसाद नहीं और न किसी काव्यांग-विवेचक ग्रन्थ के नियम-परिपालन का ही फल है।

उस दिन हम एक महायात्रा में कुछ लोगों के साथ गंगातट तक

तक गये थे यात्री की मृत्यु पञ्चक में हुई थी। शव चिता पर रक्खा गया। अग्नि-संस्कार के समय एक लकड़ी खिसकी। इससे शव का सिर हिल गया। इसपर एक आदमी बोला—लकड़ी खिसकने से सिर हिल गया। यह सुनकर दूसरा बोल उठा—नहीं, नहीं, अमुक चाचा सिर हिलाकर मना कर रहे हैं कि अग्नि-संस्कार न करो; हम धनिष्ठा-पञ्चक में मरे हैं। यह उक्ति यद्यपि एक ग्रामीण की है तथापि इसमें चमत्कार है। कवि को ऐसे ही चमत्कार लाने का उद्योग करना चाहिये।

गुण-दोष-ज्ञान

काव्य के पाँच प्रकार हैं—सगुण, निर्गुण, सदोष, निर्दोष और गुण-दोष-मिश्रित। गुण तीन प्रकार के हैं—शब्द-वैमल्य, अर्थवैमल्य, और रसवैमल्य। दोष भी तीन प्रकार के हैं—शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य, रसकालुष्य। इन सबके लक्षण इनके नाम ही से व्यक्त हैं।

कवि को इन निर्दिष्ट दोषों से बचने का यत्न करना चाहिए। परन्तु बचेगा उनसे वही जो उन्हें जानता होगा। अतएव कविता-विषयक गुण दोषों का ज्ञान प्राप्त करना भी कवि के लिए आवश्यक है।

परिचय-चारुता

कवि को सब शास्त्रों, सब विद्याओं और सब कलाओं आदि से परिचित होना चाहिए। क्षेमेन्द्र की आज्ञा है कि तर्क, व्याकरण, नाट्य-शास्त्र, काम-शास्त्र, राज-नीति,

उपमा

अप्पय दीक्षित नाम के एक नामी पण्डित हो गये हैं। संस्कृत भाषा में प्रणीत, आपके अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं। अलंकार शास्त्र पर आपके लिखे दो तीन ग्रन्थ हैं। आपकी राय है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर इस विस्तृत विश्व का ज्ञान सहज ही में जैसे हो जाता है, वैसे ही अकेले उपमालंकार का सम्यक् ज्ञान हो जाने से अन्य अलंकारों का रहस्य ज्ञात हो जाने में विशेष बाधा नहीं आती। उपमा सर्वश्रेष्ठ अलंकार है। भिन्न भिन्न शब्दार्थों की भूमिका ग्रहण करके, अनेक वेष धारणपूर्वक, काव्यरूपी रंगमञ्च पर वही अपना नाच दिखाती और रसिकों के हृदय का रंजन करती है। इस बात पर यदि किसी को विश्वास न हो तो, अप्पय दीक्षित के दिखाये उपमा के करिश्मे स्वयं ही देख ले। यथा—

(१) मुख चन्द्रमा के सदृश है—इस प्रकार का सादृश्य वर्णन उपमालंकार है। उक्ति भेद से अब इसी उपमा का बहुरूपियापन देखिये—

(२) चन्द्रमा के सदृशमुख है; और मुख के सदृश चन्द्रमा है—यह उपमेयोपमालंकार है।

(३) मुख मुख ही के सदृश है—यह अनन्वयालंकार है।

(४) चन्द्रमा मुख के सदृश है। यह प्रतीपालंकार है।

(५) चन्द्रमा को देख कर मुख का स्मरण होता है—यह स्मरणालंकार है।

(६) मुख ही चन्द्रमा है—यह रूपक है।

(७) मुखचन्द्र से सन्ताप शान्त होता है—यह परिणामालंकार है।

(८) क्या यह मुख है या चन्द्रमा ?—यह सन्देहालंकार है।

(९) चन्द्रमा समझकर मुख की ओर चकोर दौड़ पड़ते हैं—यह भ्रांतिमान् अलंकार है।

(१०) मुख को चकोर तो चन्द्रमा, और चंचरीक कमल समझते हैं—यह उल्लेखालंकार है।

(११) मुख नहीं, यह तो चन्द्रमा है—यह अपह्नुति नाम का अलंकार है।

(१२) चकोर चन्द्रमा पर और मैं उस मुख पर अनुरक्त हूं—यह प्रतिवस्तूपमालंकार है।

(१३) आकाश में चन्द्रमा, भूमि पर वह मुख—यह दृष्टान्तालंकार है।

(१४) मुख चन्द्रमा की शोभा को धारण कर रहा है—यह निदर्शनालंकार है।

(१५) निष्कलङ्क मुख चन्द्रमा से अधिक विशेषता रखता है—यह व्यतिरेकालंकार है।

(१६) मुख के आगे चन्द्रमा निष्प्रभ है "मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः" यह अप्रस्तुत प्रशंसा है।

दीक्षित जी ने तो भूमिका भेद से उपमा के और भी नाच दिखाये हैं, पर हमने नमूने के तौर पर उनमें से कुछ ही का निदर्शन यहां किया है। दीक्षित जी अलङ्कारशास्त्र के बड़े भारी ज्ञाता थे। पहले तो आपने जयदेव कवि के चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ को आधार मानकर अलङ्कार शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा और उसका नाम रखा कुवलयानन्द। उसमें आपने इस शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली बड़ी बड़ी बारीकियाँ बताई हैं। कवियों की उक्तियाँ ढूँढ ढूँढ कर आपने कहीं कहीं ऐसी बाल की खाल खींची है कि पढ़कर बड़ा कुतूहल होता है।

"मुख इव चन्द्र" एक बात हुई। "मुख एव चन्द्र" और ही बात हो गई। "इव" की जगह "एव" हो जाने से आकाश पाताल का अन्तर हो गया। पर जहाँ बहुत ही कम अन्तर है, वहाँ भी आप शास्त्रार्थ करने और नये पुराने मतों का तारतम्य बताने से नहीं चूके। कितने ही अलङ्कारों के दो दो, तीन तीन, चार चार, यत्र तत्र इससे भी अधिक भेद बताकर बेतरह बात का बतंगड़ किया है, जिसे देखकर अक़्ल चकरा जाती है। पर इसे दोष न समझिये। उस ज़माने में यह गुण समझा जाता था।

प्राचीन समीक्षा-शैली

अप्पय दीक्षित द्राविड़ देश के निवासी थे और जगन्नाथ पण्डित-राज तैलंगदेश के। पर पण्डितराज की अधिकांश आयु देहली, मथुरा और काशी ही में बीती।

नहीं मालूम क्यों, पण्डितराज जगन्नाथ दीक्षित जी से खार सा खाये रहते थे। सम्भव है, अप्पय दीक्षित की अलङ्कार-शास्त्रज्ञता-सम्बधिनी कीर्ति उन्हें खली हो; क्योंकि पण्डितराज के ग्रन्थों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि थे वे बड़े अभिमानी। पण्डितराज ने रसगंगाधर नाम का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया और अप्पय दीक्षित के चित्र-मीमांसा ग्रन्थ से कई गुना अधिक विस्तृत बनाकर आपने भी किसी कारण से उसे अपूर्ण ही छोड़ दिया। अप्पय दीक्षित की पुस्तक चित्र-मीमांसा अपूर्ण! तो मेरी पुस्तक रसगंगाधर भी अपूर्ण! चाहे पण्डितराज का ग्रन्थ और ही किसी कारण से अपूर्ण रह गया हो, पर इन दोनों के सम्बन्ध का विचार करके यदि कोई यह सम्भावना करे कि दीक्षित जी की होड़ करने के लिये उन्होंने भी अपने ग्रन्थ को अपूर्ण ही रहने दिया तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता।

रसगंगाधर में पण्डितराज जगन्नाथ ने, रसों और अलङ्कारों आदि के विवेचन में, अपने पूर्ववर्ती पण्डितों के सिद्धान्तों की खूब ही जाँच की है और अपनी बुद्धि का निराला ही चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है। ग्रन्थारम्भ करने के पहले ही आपने यह कसम खा ली कि मैं उदाहरण रूप में औरों के श्लोक तक ग्रहण न करूँगा; खुद ही अपनी रचनाओं के उदाहरण दूँगा। इसे आपने निभाया भी खूब। इस

ग्रन्थ में जगन्नाथ राय ने अप्पय दीक्षित की बड़ी ही छीछालेदर की। बात बात पर दीक्षित जी की उक्तियों और सिद्धान्तों का निष्ठुरतापूर्वक खण्डन किया; उनकी दिल्लगी उड़ाई; कहीं कहीं तो उनके लिये अपशब्द तक कह डाले। लो, अलङ्कारशास्त्री बनने का करो दावा! मैं तो मैं, दूसरा कौन इस विषय का ज्ञाता हो सकता है! बात शायद यह।

अप्पय दीक्षित की इतनी खबर लेकर भी जगन्नाथ राय को सन्तोष न हुआ। रसगंगाधर में दिखाये गये अप्पय दीक्षित के दोषों का संक्षिप्त संग्रह उन्होंने उससे अलग ही निकाला और 'चित्र मीमांसा खण्डन' नाम देकर उसे एक और नई पुस्तक का रूप प्रदान किया। उसके आरम्भ में आप फरमाते हैं—

रसगंगाधरे चित्रमीमांसायां मयोदिताः।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य कथ्यन्ते विदुषां मुदे॥

सो पण्डित राज ने यह संक्षिप्त संग्रह विद्वानों को प्रसन्न करने के लिये प्रकट किया! उन्होंने कहा होगा कि यदि विद्वज्जन इतना बड़ा ग्रन्थ, रसगंगाधर, पढ़ने की तकलीफ गवारा न करेंगे तो अप्पय दीक्षित की दुर्दशा का दृश्य भी उन्हें देखने को न मिलेगा। यदि ऐसा हुआ तो मेरे श्रम का सर्वांश न सही, अल्पांश जरूर ही व्यर्थ हो जायगा। अतएव, लाओ, उन दोषों को थोड़े में अलग ही लिख डालें। यदि कोई विद्वान् घंटा भर भी समय दे सकेगा तो उतने में ही उसे मेरे पाण्डित्य और दीक्षित जी के अपाण्डित्य का परिचय मिल जायगा। सो, बहुत सम्भव है, इस चित्रमीमांसा खण्डन की सृष्टि कुछ कुछ ऐसे ही विचारों की प्रेरणा से हुई हो।

जगन्नाथ राय की एक प्रतिज्ञा का उल्लेख ऊपर हो चुका है—"मैं किसी दूसरे का बनाया हुआ श्लोक रसगंगाधर में उद्धृत न करूँगा"। क्योंकि मैं किसी का उच्छिष्ट छूता तक नहीं। दूसरी प्रतिज्ञा आपने चित्रमीमांसा खण्डन के आरम्भ में इस प्रकार की—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानां—
अप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम् ।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या—
दस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥

अप्पय्य दीक्षित के जो दोष मैंने इस पुस्तक में दिखाये हैं, उनका समुद्धार, मत्सरता ,छोड़कर, यदि कोई कर देगा तो मैं उस विमल मति महात्मा के पैर छूने या पैर मलने को तैयार रहूंगा । पण्डितराज ने शर्त कितनी अच्छी रक्खी है । उद्धार की चेष्टा करने वाले को उसी तरह निर्मत्सर होना चाहिये, जैसे स्वयं पण्डितराज जी हैं ।

अब पण्डितों के राजराजेश्वर के खण्डन का एक नमूना देखिये । इसके पूर्वलेख में अप्पय्य दीक्षित ने उपमा को नटी मानकर भूमिका भेद से उसके कई नृत्य दिखाये हैं । उनमें से नम्बर (१६) में अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण दिया गया है । अप्पय दीक्षित की मूल उक्ति है—

"मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः"

बस पण्डितराज को बेजार कर देने के लिये दीक्षित जी की यह इतनी छोटी रचना काफ़ी से अधिक हो गई । उपमा प्रकरण के अन्य दोष तो आपने पीछे से दिखाकर दीक्षित जी की बुरी तरह खबर ली, पहले आपने उन्हें व्याकरणज्ञता से भी खारिज कर देना चाहा । आपका आशय यह जान पड़ता है कि जिसे संस्कृत भाषा में एक सतर भी शुद्ध शुद्ध लिखना नहीं आता वह अलंकार-शास्त्र पर भला ग्रन्थ कैसे लिख सकेगा ।

पूर्वोक्त वाक्य में अप्पय दीक्षित ने एक पद "पुरतः" लिखा है । पण्डितों के राजा की आज्ञा है कि यह "व्याकरण अविमर्श-निबन्धन" का नमूना है । आप फ़रमाते हैं कि 'पुर' शब्द का अर्थ है नगर । और इसी पुर शब्द से तसिल् प्रत्यय किया तो पुरतः हुआ । उसका अर्थ है—"नगर से ।" अतएव, द्रविड़ पुङ्गव जी, बतलाइये, आपके इस वाक्य की संगति कैसे हो ? उसका अर्थ क्या यह न हुआ—"मुख

के नगर से चन्द्र निष्प्रभ !!!" वाह रे वैयाकरण ! धन्य रे अलंकार-शास्त्री !

पण्डितराज की आज्ञा। आप समझे ? "पुरतः" पद को अप्पय दीक्षित ने अव्यय समझा और उसका अर्थ किया "आगे।" अतएव आपके वाक्य का अर्थ हुआ—मुख के आगे चन्द्रमा निष्प्रभ है। पर पण्डितराज फ़रमाते हैं कि आगे, सामने या पूर्व के अर्थ में पुर शब्द कभी आता ही नहीं—("नहिं पूर्ववाचकः पुर शब्दः क्वापि श्रूयते") अप्पय दीक्षित "पुरतः" को अव्यय मान कर उसका प्रयोग करते हैं; पण्डितराज ज़बरदस्ती उसे 'पुर' शब्द से बना हुआ मानते हैं और बेचारे दीक्षित को फटकार पर फटकार बताते हैं—"आगे" अर्थ में "पुरतः" गलत; "पुरः" सही। देखा, इसीलिये महाकवि कालिदास ने लिखा है—

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्।

तू ने जो लिखा है—"पुरतो हरिणाक्षीणामेव पुष्पायुधीयति" ! "पुरतः" के कारण वह भी "अपशब्द कलुषित" है। और, राम भला करे, जिन्होंने लिखा है—

(१) आत्मीयम् चरणं दधाति पुरतः

तथा

(२) पुरतः सुदती समागतं माम्

उन लोगों को भी व्याकरण का ज्ञान नहीं।

पण्डितराज की यह झाड़-फटकार सुनकर उनके टीकाकार नागेश भट्ट ने निर्मत्सर होकर पढ़ने वालों से यह प्रार्थना की है कि बहुतों के मत में निपात ("निपाताङ्गीकारात्") से पुरतः पद भी सही है; और आगे या सामने के अर्थ में पण्डितराज के भक्तिभाजन महाकवि कालिदास ने ही उसका प्रयोग भी किया है। देखिये—

इयञ्च तेऽन्या पुरतो विडम्बना।

भवभूति ने भी लिखा है—

पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पाश्चात् ।

इस सम्बन्ध में, इस नोट का लेखक भी, अपनी तरफ़ से, महा वैयाकरन भर्तृहरि का उदाहरण देता है—

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ।

खैर, व्याकरण की पक्की कसौटी पर कसने से "पुरतः" गलत ही क्यों न साबित हो; अनेक अन्य कवियों ने भी तो उसे उसी अर्थ में लिखा है, जिस अर्थ में दीक्षित जी ने लिखा है। अतएव उनको इस इतने दोष के कारण व्याकरण-ज्ञानशून्य बताना पण्डितराज की निर्मत्सरता का पूरा प्रमाण है। कालिदास का "पुरः" तो आपको झट याद आगया, परन्तु कुमारसम्भव में प्रयुक्त "पुरतः" यदि न आया ! इससे अधिक निर्मत्सरता और क्या हो सकती है ?

इन बातों से सूचित है कि अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ राय के ज़माने में भी यदा कदा वैसी ही मृदु, मधुर, सच्ची, और निर्दोष समालोचनायें होती थीं जैसी कि आजकल बहुधा देखने में आती हैं।

प्रभात

रात अब बहुत ही थोड़ी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। पूर्व दिशा-रूपिणी स्त्री की प्रभा इस समय बहुत ही भले मालूम होती है। वह हँस सी रही है। वह यह सोचती सी है कि-इस चंद्रमा ने जब तक मेरा साथ दिया जब तक यह मेरी संगति में रहा—तब तक उदित ही नहीं रहा, इसकी दीप्ति भी खूब बढ़ी। परंतु, देखो, वही अब पश्चिम-दिशारूपिणी स्त्री की तरफ जाते ही हीन-दीप्त होकर पतित हो रहा है। इसी से पूर्व-दिशा, चंद्रमा को देख देख, प्रभा के बहाने, ईर्षा से मुसका सी रही है। परंतु चंद्रमा को उसके हँसी-मज़ाक की कुछ भी परवा नहीं। वह अपने ही रंग में मस्त मालूम होता है। अस्त समय होने के कारण उसका बिंब तो लाल है; पर किरणें उसकी पुराने कमल के नाल के कटे हुए टुकड़ों के समान सफ़ेद हैं। स्वयं सफ़ेद होकर भी, बिंब की अरुणता के कारण, वे कुछ-कुछ लाल भी हैं। कुंकुम मिश्रित सफेद चंदन के सदृश उन्हीं लालिमा मिली हुई सफ़ेद किरणों से चंद्रमा पश्चिम-दिग्वधू का शृङ्गार सा कर रहा है—उसे प्रसन्न करने के लिए उसके मुख पर चन्दन का लेप सा लगा रहा है। पूर्व-दिग्वधू के द्वारा किये गये उपहास की तरफ़ उसका ध्यान ही नहीं।

मद्यपान करने से, नशे के कारण, स्त्रियों के मुख पर लालिमा आ जाती है। इस दशा में मदमाती स्त्रियों की स्वाभाविकी लज्जा जाती रहती है और वे अपने मुँख से घूँघट हटा देती हैं। अरुणोदय हो

जाने के कारण पूर्व दिग्रूपिणी स्त्री का भी मुख, इस समय, मदमाती स्त्री ही के मुख के सदृश लाल हो रहा है। घूँघट हट जाने की कसर थी। सो चंद्रमा ने अपनी सफ़ेद-सफ़ेद किरणों का जाल उसके मुख से हटा कर उस कमी की भी पूर्ति कर दी। इस कारण, चंद्रमा की बदौलत, पूर्व-दिगंगना का खुला हुआ अरुण मुख, घूँघट से निकला हुआ सा, बहुत ही शोभायमान हो रहा है।

जब कमल शोभित होते हैं तब कुमुद नहीं और जब कुमुद शोभित होते हैं तब कमल नहीं। दोनों की दशा बहुधा एक सी नहीं रहती। परंतु, इस समय, प्रातःकाल, दोनों में तुल्यता देखी जाती है। कुमुद बंद होने को हैं; पर अभी पूरे बंद नहीं हुए। उधर कमल खिलने को हैं, पर अभी पूरे खिले नहीं। एक की शोभा आधी ही रह गई है और दूसरे को आधी ही प्राप्त हुई है। रहे भ्रमर, सो अभी दोनों ही पर मँडरा रहे हैं और गुंजा-रव के बहाने दोनों ही की प्रशंसा के गीत से गा रहे हैं। इसी से, इस समय, कुमुद और कमल दोनों ही समता को प्राप्त हो रहे हैं।

सायंकाल जिस समय चंद्रमा का उदय हुआ था उस समय वह बहुत ही लावण्यमय क्रम-क्रम से उसकी दीप्ति-उसकी सुन्दरता और भी बढ़ गई। वह ठहरा रसिक। उसने सोचा, यह इतनी बड़ी रात यों ही कैसी कटेगी; लाओ खिली हुई नवीन कुमुदिनियों (कोकाबेलियों) के साथ हँसी-मजाक ही करें। अतएव वह उनकी शोभा के साथ हास-परिहास करके उसका विकास करने लगा। इस तरह खेलते-कूदते सारी रात बीत गई। वह थक भी गया; शरीर पीला पड़ गया; कर (किरण-जाल) स्रस्त अर्थात् शिथिल हो गये। इससे वह दूसरी दिगंगना (पश्चिम दिशा) की गोद में जा गिरा। यह शायद उसने इसलिए किया कि रात भर के जगे हैं; लाओ अब उसकी गोद में आराम से सो जाएँ।

अंधकार के विकट वैरी महाराज अंशुमाली अभी तक दिखाई भी नहीं दिये। तथापि उनके सारथि अरुण ही ने, उनके अवतीर्ण होने

के पहले ही, थोड़े ही नहीं, समस्त तिमिर का समूल नाश कर दिया। बात यह है कि जो प्रतापी पुरुष अपने तेज से अपने शत्रुओं का पराभव करने की शक्ति रखते हैं उनके अग्रगामी सेवक भी कम पराक्रमी नहीं होते। स्वामी को श्रम न देकर वह खुद ही उसके विपक्षियों का उच्छेद कर डालते हैं। इस तरह, अरुण के द्वारा अखिल अंधकार का तिरोभाव होते ही बेचारी रात पर आफत आ गई। इस दशा में वह कैसे ठहर सकती थी। निरुपाय होकर वह भाग चली। रह गई दिन और रात की संधि, अर्थात् प्रातःकालीन संध्या। सो अरुण कमलों ही को आप इस अल्पवयस्क सुता-सदृश संध्या के लाल-लाल और अतिशय कोमल हाथ-पैर समझिए। मधुप मालाओं से छाये हुए नीले कमलों ही को काजल लगी हुई इसकी आँखें जानिए। पक्षियों के कल-कल शब्द ही को इसकी तोतली बोली अनुमान कीजिए। ऐसी संध्या ने जब देखा कि रात इस लोक से जा रही है तब पक्षियों के कोलाहल के बहाने यह कहती हुई कि 'अम्मा, मैं भी आती हूं' वह भी उसी के पीछे दौड़ गई।

अंधकार गया; रात गई; प्रातःकालीन संध्या भी गई। विपक्षि दल के एकदम ही पैर उखड़ गए। तब, रास्ता साफ़ देख, वासर-विधाता भगवान् भास्कर ने निकल आने की तैयारी की। कुलिशपाणि इंद्र की पूर्व दिशा में, नये सोने के समान उसकी पीली-पीली किरणों का समूह छा गया। उनके इस प्रकार आविर्भाव से एक अजीब ही दृश्य दिखाई दिया। आपने बडवानल का नाम तो सुना ही होगा। वह एक प्रकार की आग है जो समुद्र के जल को जलाया करती है। सूर्य के उस लाल-पीले किरण-समूह को देखकर ऐसा मालूम होने लगा जैसे वही वाडवाग्नि समुद्र की जलराशि को जलाकर त्रिभुवन को भस्म कर डालने के इरादे से, समुद्र के ऊपर उठ आई हो! धीरे-धीरे दिननाथ का बिंब क्षितिज के ऊपर आ गया। तब एक और ही प्रकार के दृश्य के दर्शन हुए। ऐसा मालूम हुआ जैसे

सूर्य का वह बिंब एक बहुत बड़ा बड़ा है और दिग्वधुयें ज़ोर लगा कर समुद्र के भीतर से उसे खींच रही हैं। सूर्य की किरणों ही को आप लंबी-लंबी मोटी रस्सियाँ समझिए। उन्हीं से उन्होंने बिंब को बाँध सा दिया है और खींचते वक्त, पक्षियों के कलरव के बहाने वे यह कह कह कर शोर मचा रही है कि खींच लिया है; कुछ ही बाक़ी है; ऊपर आने ही चाहता है; जरा और ज़ोर लगाना।

दिगंगनाओं के द्वारा खींच-खाँच कर किसी तरह सागर की सलिलराशि से बाहर निकाले जाने पर सूर्य-बिंब चमचमाता हुआ लाल-लाल दिखाई दिया। अच्छा, बताइए तो सही, यह इस तरह का क्यों है। मेरी समझ में तो यह आता है कि सारी रात पयोनिधि के पानी के भीतर जब यह पड़ा था तब वाडवाग्नि की ज्वाला ने इसे तपा कर खूब दहकाया होगा। तभी तो खैर (खदिर) के जले हुए कुंदे के अगार के सदृश, लालिमा लिए हुए यह इतना शुभ्र दिखाई दे रहा है। अन्यथा, आप ही कहिए, इसके इतने अंगार-गौर होने का और क्या कारण हो सकता है!

सूर्य-देव की उदारता और न्यायशीलता तारीफ़ लायक़ है। तरफ़दारी तो उसे छू तक नहीं गई-पक्षपात की तो गंध तक उसमें नहीं। देखिए न, उदय तो उसका उदयाचल पर हुआ; पर क्षण भर में उसने अपने नये किरण-कलाप को उसी पर्वत के शिखर पर नहीं, किन्तु सभी पर्वतों के शिखरों पर फैला कर उन सब की शोभा बढ़ा दी। उसकी इस उदारता के कारण ऐसा मालूम हो रहा है जैसे सभी भूधरों ने अपने शिखरों—अपने मस्तकों-पर दुपहरिया के लाल-लाल फूलों के मुकुट धारण कर लिये हों। सच है, उदारशील सज्जन अपने चारू चरितों से अपने ही उदय-देश को नहीं, अन्य देशों को भी आप्यायित करते हैं।

उदयाचल के शिखर रूप आँगन में बाल सूर्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख पद्मिनियों को बड़ा प्रमोद हुआ। सुन्दर

बालक को आँगन में जानु-पाणि चलते देख स्त्रियों का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। अतएव उन्होंने अपने कमल-मुख के विकास के बहाने हँस हँस कर उसे बड़े ही प्रेम से देखा। यह दृश्य देख कर माँ के सदृश अंतरिक्ष देवता का हृदय भर आया। वह पक्षियों के कल-रव के मिस बोल उठी-आ जा आ जा; आ बेटा, आ। फिर क्या था; बाल-सूर्य्य बाल-लीला दिखाता हुआ, झट अपने मृदुल कर (किरणें) फैला कर, अंतरिक्ष की गोद में कूद गया। उदयाचल पर उदित हो कर ज़रा ही देर में वह आकाश में आ गया।

आकाश में सूर्य्य के दिखाई देते ही नदियों ने विलक्षण ही रूप धारण किया। दोनों तटों या कगारों के बीच से बहते हुए जल पर सूर्य्य की लाल-लाल प्रातःकालीन धूप जो पड़ी तो वह जल परिपक्व मदिरा के रंग सदृश हो गया। अतएव ऐसा मालूम होने लगा जैसे सूर्य्य ने अपने किरण बाणों से अंधकार रूपी हाथियों की घटा को सर्वत्र मार गिराया हो; उन्हीं के घावों से निकला हुआ रुधिर बह कर नदियों में आ गया हो; और उसी के मिश्रण से उनका जल लाल हो गया हो।

तारों का समुदाय देखने में बहुत भला मालूम होता है, यह भी सच है कि भले आदमियों को न कष्ट ही देना चाहिये और न उनको उनके स्थान से च्युत ही करना-हटाया ही चाहिए। परंतु सूर्य्य का उदय अंधकार का नाश करने ही के लिए होता है और तारों की श्रीवृद्धि अंधकार ही की बदौलत है। इसी से लाचार हो कर सूर्य्य को अंधकार के साथ ही तारों का भी विनाश करना पड़ा-उसे उनको भी जबरदस्ती निकाल बाहर करना पड़ा। बात यह है कि शत्रु की बदौलत ही जिन लोगों को संपत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है उनको भी मार भगाना ही पड़ता है—शत्रु के साथ ही उनका भी विनाश साधन करना ही पड़ता है। न करने से भय का कारण बना ही रहता है। राजनीति यही कहती है।

सूर्योदय होते ही अंधकार भयभीत हो कर भागा। भाग कर वह कहीं गुहाओं के भीतर और कहीं घरों के कोनों और कोठरियों के भीतर जा छिपा। मगर वहाँ भी उसका गुज़ारा न हुआ। सूर्य यद्यपि बहुत दूर आकाश में था तथापि उसके प्रबल तेज प्रताप ने छिपे हुए अंधकार को उन जगहों से भी निकाल बाहर किया। निकाला ही नहीं, किंतु उसका सर्वथा नाश भी कर दिया। बात यह है कि तेजस्वियों का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि एक निश्चित स्थान में रह कर भी वे अपने प्रताप की धाक से दूर-स्थित शत्रुओं का भी सर्वनाश कर डालते हैं।

सूर्य और चंद्रमा ये दोनों ही आकाश की दो आखों के समान हैं। उनमें से सहस्र किरणात्मक-मूर्ति धारी सूर्य ने ऊपर उठ कर जब अशेष लोकों का अंधकार दूर कर दिया तब वह खूब ही चमक उठा। उधर बेचारा चंद्रमा किरण हीन हो जाने से बहुत ही धूमिल हो गया। इस तरह आकाश की एक आँख तो खूब तेजस्क और दूसरी तेजोहीन हो गई। अतएव ऐसा मालूम हुआ जैसे एक आँख प्रकाशवती और दूसरी अंधीवाला आकाश काना हो गया हो।

कुमुदिनियों का समूह शोभाहीन हो गया और सरोरुहों का समूह शोभा संपन्न। उलूकों को तो शोक ने आ घेरा और चक्रवाकों को अत्यानंद ने। इसी तरह सूर्य तो उदय हो गया और चंद्रमा अस्त। कैसा आश्चर्यजनक विरोधी दृश्य है। दुष्ट दैव की चेष्टाओं का परिपाक कहते नहीं बनता। वह बड़ा ही विचित्र है। किसी को तो वह हँसाता है। किसी को रुलाता है।

सूर्य को आप दिग्वधुओं का पति समझ लीजिए और यह भी समझ लीजिए की पिछली रात वह कहीं और किसी जगह, अर्थात् विदेश, चला गया था। मौका पाकर, इसी बीच, उसकी जगह पर चंद्रमा आ विराजा। पर ज्यों ही सूर्य अपना प्रकाश

करके, सवेरे, पूर्व दिशा में फिर आ धमका, त्योंही उसे देख चंद्रमा के होश उड़ गये। अब क्या हो? और कोई उपाय न देख, अपने किरण-समूह कपड़े लत्ते के सदृश छोड़, उपपति के समान गर्दन झुका कर, वह पश्चिम-दिशा रूप खिड़की के रास्ते निकल भागा।

आज कल की कविता

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ! (भर्तृहरि)

श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गणना महाकवियों में है। वे विश्व-विश्रुत कवि हैं। उनके कविता ग्रन्थ विदेशों में भी बड़े चाव से पढ़े जाते हैं। कविता ग्रन्थों ही का नहीं, उनके अन्य ग्रन्थों का भी बड़ा आदर है। उनकी कृतियों के अनुवाद अनेक भाषाओं में हो गये हैं और होते जा रहे हैं। उन्हें साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किये कोई ५० वर्ष हो गये। बहुत कुछ ग्रन्थ-रचना कर चुकने पर उन्होंने एक विशेष प्रकार की कविता सृष्टि की है। यह सृष्टि उनके अनवरत अभ्यास, अध्ययन और मनोऽभिनिवेश का फल है। अँगरेज़ी में एक शब्द है—Mystic या Mystical पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र ने, अपने त्रैभाषिक कोष में, उसका अर्थ लिखा है—गूढ़ार्थ, गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। रवीन्द्र-नाथ की यह नये ढङ्ग की कविता इसी 'मिस्टिक' शब्द के अर्थ की द्योतक है। इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थ-बोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद-कविता कहना चाहिए।

कुछ शब्दों में विशेष प्रकार की शक्ति होती है। कभी-कभी एक ही शब्द या वाक्य से कई अर्थ निकलते हैं। ऐसे अर्थों की वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य संज्ञा है। वाच्य से तो साधारण अर्थ का ग्रहण होता

है; लक्ष्य और व्यङ्ग से विशेष अर्थों का। पर रहस्यमयी कविता को आप इन अर्थों से परे समझिए। एक अलंकार का नाम है—सहोक्ति। जहाँ वर्ण्य विषय के सिवा किसी अन्य विषय का भी बोध, साथ ही साथ, होता जाता है वहाँ यह अलंकार माना जाता है। महाकवि ठाकुर की कविता इस अलंकार के भी भीतर नहीं आती। संस्कृत-भाषा में कितने ही काव्य ऐसे हैं जो आद्योपान्त द्व्यर्थक हैं। वर्णन हो रहा है हरि का, पर साथ ही अर्थ हर का भी निकलता जाता है। काव्य लिखा गया है राघव के चरित्र-चित्रण-सम्बन्ध में; पर करता चला जा रहा है पाण्डवों के भी चरित का चित्रण। इस तरह के भी काव्यों की कक्षा के भीतर कविवर ठाकुर की कविता नहीं आती। वह आती किसके भीतर है, यह बात कवियों का यह किङ्कर नहीं बता सकता। बताने का सामर्थ्य उसमें नहीं। जिसे इस कविता का रहस्य जानना हो वह बँगला पढ़े, कुछ समय तक उस भाषा में लिखे गये काव्यों का अध्ययन करे, तब यदि वह इसकी गुप्त, गूढ़ या छायामयी कविता पर कुछ कह सके तो कहे। रहीम पर कुछ कहना हो तो राम का चरित-गान करो; अशोक पर कुछ लिखना हो तो सिकन्दर के जीवन-चरित की चर्चा करो—यह अघटनीय घटना कर दिखाना साधारण कवियों का काम नहीं। पर रवि बाबू की गोपनशील कविता ने हिन्दी के कुछ युवक कवियों के दिमाग़ में कुछ ऐसी हरकत पैदा कर दी है कि वे असम्भव को सम्भव कर दिखाने की चेष्टा में अपने श्रम, समय और शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय कर रहे हैं। जो काम रवीन्द्रनाथ ने चालीस पचास वर्ष के सतत अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया है उसे वे स्कूल छोड़ते ही, कमर कसकर, दिखाने के लिए उतावले हो रहे हैं। कुछ तो स्कूलों और कालेजों में ही रहते रहते छायावादी कवि बनने लग गये हैं। यदि ये लोग रवीन्द्रनाथ ही की तरह सिद्ध कवि हो जायँ और उन्हीं की जैसी गुह्यातिगुह्य कवित्व-रचना करने में भी समर्थ हो जायँ तो कहना पड़ेगा कि किसी दिन—

विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।

कविता की किस उद्देश्य से जाती है? ख्याति के लिए, यशःप्राप्ति के लिए, धनार्जन के लिए, या दूसरों के मनोरंजन के लिए। इसके सिवा तुलसीदास की तरह 'स्वान्तःसुखाय' भी कविता की रचना होती है। परमेश्वर का सम्बोधन करके कोई-कोई कवि आत्म-निवेदन भी, कविता द्वारा ही करते हैं। पर ये बातें केवल भक्त कवियों ही के विषय में चरितार्थ होती हैं। अस्मदादि लौकिक जन तो और ही मतलब से कविता करते या लिखते हैं और उनका वह मतलब ख्याति-लाभ और मनोरंजन आदि के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। इन सभी उद्देश्यों की सिद्धि तभी हो सकती है जब कवि की कविता का आशय दूसरों की समझ में झट आ जाय। क्योंकि जो बात समझ ही में न आवेगी उसको दाद देगा कौन? न उससे किसी का मनोरंजन ही होगा; न उसे सुनकर सुननेवाला कवि का अभिनन्दन ही कर सकेगा और जब उसके हृदय पर कविता का कुछ असर ही न होगा तब वह कवि को कुछ देगा क्यों? अब विचार करने की बात है कि वर्तमान छायावादी कवियों की कविता में श्रोताओं को मुग्ध करने योग्य गुण हैं या नहीं। इस पर, आगे चल कर, हम सप्रमाण विचार करेंगे।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि छायावादी कवि दूसरों को प्रसन्न करने के लिए कविता-रचना नहीं करते। वे अपनी ही मनस्तुष्टि के लिए कविता लिखते हैं। इस पर प्रश्न हो सकता है कि फिर वे दूसरों से अपनी कविता की समालोचना के अभिलाषी क्यों होते हैं? मान लीजिए कि ये लोग बड़े अच्छे कवि हैं; परन्तु यदि ये अपनी कविता की रचना अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिए करते हैं तो उससे संसार को क्या लाभ? अपनी चीज़ किसे अच्छी नहीं लगती? तुलसीदास ने कहा ही है—'निज कवित्त केहि लाग न नीका'। ऐसे कवियों के विषय में कविवर रुद्रभट्ट की उक्ति बड़ी ही मनोहारिणी है—

सत्यं सन्ति गृहे गृहे सुकवयो येषां वचश्चातुरी
स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते जातैर्गुणैर्गौरवम् ।
दुष्प्रापः स तु कोऽपि कोविदपतिर्यद्वाग्रसग्राहिणां
पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुं क्षमा ॥

ऐसे कवि तो घर-घर में भरे पड़े हैं जिनकी वचन-चातुरी, अपने ही आँगन में मनोहारिणी बातें करने वाली कुलकन्या के समान, गुणों के प्रशंसक स्वजनों ही से आदर पाती है। परन्तु जिनकी सरस वाणी (दूर-दूर तक के) रसग्राही कविता-प्रेमियों का चित्त, कलाकुशल वार-वनिता के सदृश, चुरा लेने में समर्थ होती है वे कवीश्वर मुश्किल से कहीं पाये जाते हैं।

एक बात और भी है। यदि ये लोग अपने ही लिए कविता करते हैं तो अपनी कविताओं का प्रकाशन क्यों करते हैं? प्रकाशन भी कैसा? मनहोर टाइप में, बहुमूल्य काग़ज़ पर, अनोखे अनोखे चित्रों से सुसज्जित, टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची पंक्तियों में, रंग-बिरंगे बेल-बूटों से अलंकृत। यह इतना ठाठ-बाट—यह इतना आडम्बर—दूसरों ही को रिझाने के लिए हो सकता है, अपनी आत्मा की तृप्ति के लिए नहीं। परन्तु सत्कवि के लिए इस आयोजन की आवश्यकता नहीं। जिन कवियों को नाम-शेष हुए हज़ारों वर्ष बीत चुके उनको यह कुछ भी नहीं करना पड़ा। करना भी चाहते तो वे न कर सकते। क्योंकि उस समय ये साधन ही सुलभ न थे। किसी ने अपना काव्य ताड-पत्र पर लिखा, किसी ने भोजपत्र पर; किसी ने भद्दे और खुरदरे काग़ज़ पर। पर जनता ने प्रकाशन के आडम्बरों से रहित इन सत्कवियों के काव्यों को यहाँ तक अपनाया कि समय उनको नष्ट न कर सका, धर्म्मान्ध आततायियों से उनका कुछ न बिगड़ सका, जलप्लावन और भूकम्प आदि का ज़ोर भी उनका नाश न कर सका। सहृदय सज्जनों और कविता के पारखियों ने उन्हें आत्मसात् करके—उन्हें अपने कण्ठ और अपने हृदय में स्थान दे कर—अमर कर दिया। सड़े गले काग़ज़

और फटे पुराने ताडपत्र के देखकर काव्यरसिकों ने उन्हें फेंका नहीं। उन पुरातन पत्रों में कुछ ऐसा मोहनमन्त्र था—उनमें कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति थी—जिसने उन्हें मोह लिया। वही शक्ति—वही मन्त्रौषध—उन काव्यों के जीवित रहने का कारण हुई। सो, छायावादी कवि अपनी कृति को वह चाहे जितने रम्य रूप में प्रकाशित करे—उसके उपकरणों को चाहे जितना मनोमोहक बनावे—यदि उसकी कविता में वह शक्ति नहीं जो सत्कवियों की कविता में होती है तो उसके आडम्बर-जाल में सरसहृदय श्रोता-शुक कदापि फँसने के नहीं।

प्राचीन कवियों को जाने दीजिए। आधुनिक कवियों में भी ऐसे कई सत्कवि इस समय विद्यमान हैं जिनकी कविता-पुस्तकों के, थोड़े ही समय में, अनेक संस्करण निकल चुके हैं। उनकी कवितायें मदरसों, स्कूलों और कालेजों के छात्रों तक के कण्ठहार हो रही हैं। इन कवियों ने अपनी कवितायें सजाकर प्रकाशित करने की चेष्टा नहीं की और किसी किसी ने की भी है तो बहुत ही थोड़ी। फिर भी इनकी कविता का जो इतना आदर हुआ है उसका एक-मात्र कारण है उसकी सरसता, उसका प्रसाद-गुण, उसकी वर्णाभरणता और उसकी चमत्कारकारिणी रचना। अतएव सत्कवियों के लिए आडम्बर की ज़रूरत नहीं—किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्

गूढार्थविहारी या छायावादी कवियों की कहीं यह धारणा तो नहीं कि हमारी कविता में कवि लभ्य गुण तो हैं ही नहीं, लाओ ऊपरी आडम्बरों ही से पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करें। परन्तु यह सन्देह निराधार सा जान पड़ता है; क्योंकि इन महाशयों में से कविता-कान्तार के किसी किसी कण्ठीरव ने बड़े गर्जन-तर्जन के साथ अन्य कवियों को लथेड़ा है। इन कठोर-कर्म्मा कवियों की दहाड़ें सुनकर ही शायद अन्य कवि भयभीत होकर अपने अपने गृह-गह्वरों में जा छिपे हैं। किसी से अब तक कुछ करते धरते नहीं बना। इन महा-कवियों के महाराजों की समझ में जो कवि इनकी जैसी कविता के

प्रशंसक, पोषक वा प्रणेता नहीं वे कवि नहीं, किन्तु कवित्वहन्ता हैं। इस 'कवित्वहन्ता' पद के प्रयोग का कर्ता आप कवियों के इस किङ्कर ही को समझिए। यह शब्द एक और ऐसे ही शब्द के बदले यहाँ लिखा गया है जो है तो समानार्थक, पर सुनने में निकृष्ट निर्दयता-सूचक है। वह शब्द, इस विषय में, एक ऐसे साहित्यशास्त्री-द्वारा प्रयोग में लाया गया है जो संस्कृत-भाषा में रचे गये अनेक महाकाव्यों के रसार्णव में आशैशव गोता लगाते चले आ रहे हैं और जिनका निवास इस समय लखनऊ के अमीनाबाद मुहल्ले में है। अतएव इस शब्दात्मक कठोर कशाघात के श्रेय के अधिकारी वही हैं।

सत्कवि के लिए आडम्बर की मुतलक़ ही ज़रूरत नहीं। यदि उसमें कुछ सार है तो पाठक और श्रोता स्वयं ही उसके पास दौड़ आवेंगे। आम की मंजरी क्या कभी भौरों को बुलाने जाती है?—न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्

आज कल के कुछ कवि कवि-कर्म्म में कुशलता-प्राप्ति की चेष्टा तो कम करते हैं, आडम्बर-रचना की बहुत। शुद्ध लिखना तक सीखने के पहले ही वे कवि बन जाते हैं और अनोखे-अनोखे उपनामों की लाङ्गूल लगाकर अनाप-शनाप लिखने लगते हैं। वे कमल, विमल, यमल और अरविन्द, मिलिन्द, मकरन्द आदि उपनाम धारण करके अख़बारों और सामयिक पुस्तकों का कलेवर भरना आरम्भ कर देते हैं। अपनी कविताओं ही में नहीं, यों भी जहाँ कहीं वे अपना नाम लिखते हैं, काव्योपनाम देना नहीं भूलते। यह रोग उनको उर्दू के शायरों की बदौलत लग गया है। पर इससे कुछ भी होता जाता नहीं। शेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन और कालिदास, भारवि, भवभूत आदि कवि इस रोग से बरी थे। फिर भी उनके काव्यों का देश-देशान्तरों तक में आदर है। उपनाम-धारण की असारता उर्दू ही के प्रसिद्ध कवि चकबस्त ने खूब समझी थी। उनका कथन है—

ज़िक्र क्यों आयेगा बज़्में—शुअरा में अपना

मैं तखल्लुस का भी दुनिया में गुनहगार नहीं

अनूठे-अनूठे तखल्लुस (उपनाम) लगाने से किसी की प्रसिद्धि नहीं होती। चकबस्तजी का क़ौल है—

किस वास्ते जुस्तजू करूँ शुहरत की
इक दिन खुद ढूँढ़ लेगी शुहरत मुझको

. . गुण होने ही से प्रसिद्धि प्राप्त होती है। पकड़ लाने की चेष्टा से वह नहीं मिलती।

कवित्व-शक्ति किसी विरले ही भाग्यवान को प्राप्त होती है। यह शक्ति बड़ी दुर्लभ है। याद पड़ता है, बहुत पहले, सरस्वती में एक लेख निकला था। नाम उसका था कवि बनने के लिये सापेक्ष्य साधन। इस संग्रह में यह......लेख है। उसमें इस बात का विचार किया गया था कि कवियशो-लिप्सुओं के लिए किन-किन साधनों के आश्रय की आवश्यकता होती है। ये साधन अनेक हैं। इनमें से मुख्य तीन हैं—प्रतिभा (अर्थात् कवित्व-बीज), अध्ययन और अभ्यास। इनमें से किसी एक, और कभी-कभी किसी दो, की कमी होने से भी मनुष्य कविता कर सकता है। परन्तु प्रतिभा का होना परमावश्यक है। बिना उसके कोई मनुष्य अच्छा कवि नहीं हो सकता। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तक—कविकण्ठाभरण—में, थोड़े ही में, इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। वर्तमान कविमन्यों को चाहिए कि वे उसे पढ़ें। स्वयं न पढ़ सकें तो किसी संस्कृतज्ञ से उसे पढ़वाकर उसका आशय समझ लें। ऐसा करने से, आशा है, उन्हें अपनी त्रुटियों और कमज़ोरियों का पता लग जायगा। कवित्व-शक्ति होने पर भी पूर्ववर्ती कवियों और महाकवियों की कृतियों का परिशीलन करना चाहिए और कविता लिखने का अभ्यास भी कुछ समय तक करना चाहिए। छन्दः प्रभाकर में दिये गये छन्दोरचना के नियम जान कर तत्काल ही कवि न बन बैठना और समाचार-पत्रों के स्तम्भों तक दौड़ न लगाना चाहिए।

क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कवि बनने की इच्छा रखनेवालों के तीन दरजे होते हैं—अल्पप्रयत्नसाध्य, कृच्छ्रसाध्य, और असाध्य। इनमें से पहले दोनों के लिए भी बहुत कुछ अध्ययन, श्रवण, विचार और अभ्यास की ज़रूरत होती है। यह नहीं कि तेरह-ग्यारह मात्राओं के दोहे का लक्षण जान लेते ही काता और ले दौड़े। अन्तिम, तीसरे दरजे, के मनुष्यों के लिए क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव
कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनिलधूमिना वा-
प्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः॥ २२॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्या-
च्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि
सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥ २३॥

जिसका हृदय स्वभाव ही से पत्थर के समान है, जो जन्म-रोगी है, व्याकरण 'घोखते घोखते' जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, घट-पट और अग्नि-धूम आदि से सम्बन्ध रखनेवाली फक्किकायें रटते रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध सी हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता उसे आप चाहें जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास करावें वह कभी कवि नहीं हो सकता। सिखाने से भी क्या गधा भैरवी अलाप सकता है? अथवा दिखाने से भी क्या अन्धा मनुष्य सूर्य-बिम्ब देख सकता है?

अब आप ही कहिए कि जिन्होंने कवित्व-प्राप्ति-विषयक कुछ भी शिक्षा नहीं पाई, जिन्होंने उस सम्बन्ध में वर्ष दो वर्ष भी अभ्यास नहीं किया और जिन्होंने इस बात का भी पता नहीं लगाया कि उनमें कवित्व-शक्ति का बीज है या नहीं वे यदि बलात् कवि बन बैठें और दुनिया पर अपना आतङ्क जमाने के लिए कविता-विषयक बड़े-बड़े

लेक्चर झाड़ें तो उनके कवित्त्व की प्रशंसा की जानी चाहिये या उनके साहस, उनके धार्ष्ट्य और उनके अविवेक की। उस दिन सत्रह-अट्ठारह वर्ष का एक लड़का इस किङ्कर के पास आया। उसकी बग़ल में उसकी लिखी हुई कोई डेढ़ दर्जन 'कविताओं' के काग़ज़ों का एक बण्डल था। वे सब कवितायें वह कुछ सभाओं में सुना चुका था। उनकी कापियाँ वह कुछ अखबारों को भी भेज चुका था। उसे शब्द-शुद्धि तक का ज्ञान न था। उसकी तुक-बन्दियों में एक नहीं अनेक छन्दोभङ्ग तक थे। तथापि वह अपने मन से कवि बन बैठा था। बहुत कुछ कहने-सुनने से उसने लघुकौमुदी पढ़ डालने का वचन दिया। आजकल ऐसे ही कवियों की धूम है। समाचार-पत्रों और सामयिक पत्रिकाओं के सम्पादकों को भी, कई कारणों से निरुपाय होकर, ऐसों ही की कात-कूत को ग्रहण करना पड़ता है। इसी से कविता के एक विशेषज्ञ ने अपने हार्दिक उद्गार, अपने एक पत्र में, इस प्रकार निकाले हैं—

"आज-कल जो हिन्दी कवितायें निकलती हैं उन्हें मैं 'अस्पृश्य' समझ कर दूर ही से छोड़ देता हूँ। पहले कुछ पढ़ीं; पर चित्त में दुःख हुआ। तब से उन्हें देखना ही बन्द कर दिया। आज-कल के कवि-पुङ्गवों और उपन्यास-लेखकों से तो जी ऊब उठा है। क्या कहें और किससे कहें? सबसे बड़ी मुश्किल तो यह है कि यदि कुछ समझाया जाय तो ये बदनसीब समझ भी नहीं सकते"। (यहाँ पर लेखक ने अपने पत्र में "बदनसीब" के पर्यायवाची एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जो बहुत कठोर है। अतएव वह नहीं लिखा गया)।

इस पर प्रार्थना इतनी ही है कि आज-कल के सभी कवि ऐसे नहीं। उनमें से दो चार सत्कवि भी हैं, जिनकी रचना पढ़कर कोई भी सरसहृदय कविता-प्रेमी आनन्दमग्न हुए बिना नहीं रह सकता। इस बात के दो एक प्रमाण, आगे चलकर, सोदाहरण, दिये जायँगे।

अच्छा कविता कहते किसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर बहुत टेढ़ा

है। इसलिए कि इस विषय में, आचार्यों और विशेषज्ञों में, मतभेद है। कविता कुछ सार्थक शब्दों का समुदाय है अथवा यह कहना चाहिये कि ऐसे ही शब्द-समुदाय के भीतर रहनेवाली एक वस्तु-विशेष है। कोई तो कहता है कि ये शब्द या वाक्य यदि सरस हैं तभी कविता की कक्षा के भीतर आ सकते हैं। कोई उनके अर्थ को रमणीयता-सापेक्ष्य बतलाता है। कोई उनमें उनके भाव के अनूठेपन की पख लगाता है। कोई इन विशेषताओं के साथ शब्द-शुद्धि; छन्दःशास्त्र के नियमों के परिपालन और अलङ्कार आदि की योजना को भी आवश्यक बताता है। पर आप इन पचड़ों और झगड़ों को जाने दीजिये। आप सिर्फ यह देखिये कि कोई पत्र लिखता, बोलता या व्याख्यान देता है तो दूसरे पर अपने मन का भाव प्रकट करने ही के लिए वह ऐसा करता है या नहीं। यदि वह इसलिए यह कुछ नहीं करता तो न उसे लिखने की ज़रूरत और न बोलने की। उसे मूक बन कर या मौन धारण करके ही रहना चाहिए। सो बोलने या लिखने का एक मात्र उद्देश्य दूसरों को अपने मन की बात बताने के सिवा और कुछ हो-ही नहीं सकता। जो अँगरेजी या बँगला-भाषा नहीं जानता उसे इन भाषाओं की बढ़िया से भी बढ़िया कविता या कहानी सुनाना बेकार है। जो बात या जो भाषा मनुष्य सबसे अधिक सरलता से समझ सकता है उसी बात या उसी भाषा की पुस्तक पढ़ने या सुनने से उसके हृदय पर कुछ असर पड़ सकता है। क्योंकि जब तक दूसरे का व्यक्त किया हुआ मतलब समझ में न आवेगा तब तक मनुष्य के हृदय में कोई भी विकार जाग्रत न होगा न होगा, । पशुओं के सामने आप उत्तमोत्तम कविता का पाठ कीजिए। उन पर कुछ भी असर न होगा।

अतएव गद्य हो या पद्य, उसमें जो कुछ कहा गया हो वह श्रोता या पाठक की समझ में आना चाहिए। वह जितना ही अधिक और जितना ही जल्द समझ में आवेगा, गद्य या पद्य के

लेखक का श्रम उतना ही अधिक और उतना ही शीघ्र सफल हो जायगा। जिस लेख या कविता में यह गुण होता है उसकी प्रासादिक संज्ञा है। कविता में प्रसाद गुण यदि नहीं तो कवि की उद्देश-सिद्धि अधिकांश में व्यर्थ जाती है। कवियों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। जो कुछ कहना हो उसे इस तरह कहना चाहिए कि वह पढ़ने या सुननेवाले की समझ में तुरन्त ही आ जाय। इसे तो आप कविता का पहला गुण समझिए। दूसरा गुण कविता में यह होना चाहिए कि कवि के कहने के ढङ्ग में कुछ निरालापन या अनूठापन हो—वह अपने मन के भाव को इस तरह प्रकट करे जिससे पढ़ने या सुननेवाले के हृदय में कोई न कोई विकार जाग्रत, उत्तेजित या विकसित हो उठे। विकारों का उद्दीपन जितना ही अधिक होगा कवि की कविता उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी। यह भी न हो तो उसकी कविता सुन कर श्रोता का चित्त तो कुछ चमत्कृत हो। यदि कवि में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह दूसरों के हृदयों को प्रभावान्वित कर सके तो कम से कम उसे अपनी बात ऐसे शब्दों में तो जरूर ही कहनी चाहिए जो कान को अच्छी लगे। कथन में लालित्य होना चाहिए; उसमें कुछ माधुर्य होना चाहिए। कविता के शास्त्रीय लक्षणों की परवा न करके जो कवि कम से कम इन तीनों गुणों में से, सबके न सही, एक ही दो के साधन में सफल होने की चेष्टा करेंगे उन्हीं की कविता, न्यूनाधिक अंश में, कविता कही जा सकेगी।

'आबेहयात' के लेखक, प्रोफेसर आजाद, ने संस्कृत भाषा में लिखे गये साहित्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों का अध्ययन न किया था। पर थे वे प्रतिभावान्, सहृदय और काव्य-प्रेमी। इसी से उन्होंने छोटी छोटी दो ही सतरों में सत्कविता का कैसा अच्छा निरूपण किया है। निरूपण क्या किया है, परमात्मा से उसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। वे कहते हैं :—

है इल्तिजा यही कि अगर तू करम करे।
वह बात दे ज़बाँ में के दिल पर असर करे ॥

देखिए, उन्हें माल, मुल्क, प्रभुता, महत्ता किसी की भी इच्छा नहीं। इच्छा सिर्फ़ यह है कि जो कुछ वे कहें उसका असर सुनने वाले के दिल पर पड़े। सत्कविता का सबसे बड़ा गुण—सबसे प्रधान लक्षण यही है।

सत्कवियों की वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। वही श्रोताओं और पाठकों को अभिलषित दिशा की ओर खींचती और उद्दिष्ट विकारों को उन्मजित करती है। असर पैदा करना —प्रभाव जमाना— उसी का काम है। सत्कवि अपनी कविता के प्रभाव से रोते हुओं को हँसा सकता है, हँसते हुओं को रुला सकता है, भीरुओं को युद्ध-वीर बना सकता है, वीरों को भयाकुल और त्रस्त कर सकता है, पाषाण-हृदयों के भी मानस में दया का सञ्चार कर सकता है। वह सांसारिक घटनाओं का इतना सजीव चित्र खड़ा कर देता है कि देखने वाले चेष्टा करने पर भी उसके ऊपर से आँख नहीं उठा सकते। जब वह श्रोताओं को किसी विशेष विकार में मग्न करना अथवा किसी विशेष दशा में लाना चाहता है तब वह कुछ ऐसे भावों का उन्मेष करता है कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं और विवश-से होकर कवि के प्रयत्न को बिना विलम्ब सफल करने लगते हैं। यदि वह उनसे कुछ कराना चाहता है तो करा कर ही छोड़ता है। सत्कवि के लिए ये बातें सर्वथा सम्भव हैं।

यदि किसी कवि की कविता में केवल शुष्क विचारों का विजृम्भण है; यदि उसकी भाषा निरी नीरस है; यदि उसमें कुछ भी चमत्कार नहीं तो ऊपर जिन घटनाओं की कल्पना की गई उनका होना कदापि सम्भव नहीं। और यदि उसकी क्लिष्ट कल्पनाओं और शुष्क शब्दाडम्बर के भीतर छिपे हुए उसके मनोभाव श्रोताओं की समझ ही में न आवे तो कोढ़ में खाज ही उत्पन्न हो गई समझिए। ऐसी कविता से प्रभावान्वित होना तो दूर, उसे पढ़ने तक का भी कष्ट शायद ही कोई उठाने का साहस

कर सके। बात यदि समझ ही में न आई तो पढ़ने या सुनने वाले पर असर पड़ कैसे सकता है? जो कवि शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और वाक्य-समुदाय के आकार-प्रकार की काँट-छाँट में भी कौशल नहीं दिखा सकते उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही विलीन हो जाती है। जिसमें रचना-चातुर्य्य तक नहीं उसकी कवियशोलिप्सा विडम्बना-मात्र है। किसी ने लिखा है—

तान्यर्थरत्नानि न सन्ति येषां
सुवर्णसङ्घेन च ये न पूर्णाः
ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्या
यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम्?

जिनके पास न तो अर्थ रूपी रत्न ही हैं और न सु-वर्ण-रूपी सु-वर्ण-समूह ही है वे कवियों की रीति-मात्र का आश्रय लेकर—काँसे और पीतल के दो-चार टुकड़े रखने वाले किसी दरिद्र-कल्प मनुष्य के सदृश भला कहीं कवीश्वरत्व पाने के अधिकारी हो सकते हैं? "कवि-वर, कवि चक्रवर्ती, कविरत्न, आशुकवि और कवि-सम्राट् की सनद अपने नाम के आगे (और कभी कभी पीछे) लगाकर सर्व-साधारण की आँखों में धूल डालना जितना सरल है उतना शास्त्रसम्मत और सत्समालोचकों के सिद्धान्त के अनुसार कविवर तो क्या केवल कवि तक बनना कठिन है। कवित्व का महत्व काव्यमर्म्मज्ञ ही समझता है।" यह फरवरी १६२७ की सरस्वती में प्रकाशित एक शास्त्री महाशय की सम्मति है, जो सर्वथा ठीक है।

आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्य-रचना अच्छी होती है जो देश-प्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या 'चलो वीर पटुआखाली' की तरह की पङ्क्तियों की सृष्टि करते हैं। उनमें कविता के और गुण भले ही न हों, पर उनका मतलब तो समझ में आ जाता है। पर छाया-वादियों की रचना तो कभी कभी समझ में भी नहीं आती। ये लोग बहुधा

बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छःपदे, कोई ग्यारहपदे ! कोई तेरहपदे ! किसी की चार सतरें गज गज भर लम्बी तो दो सतरें दो ही दो अंगुल की ! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के क़ायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवा करनेवाले ! इनका मूलमन्त्र है—हमचुनाँ दीगरे नेस्त। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।

कविता-नामधारिणी गूढार्थबोधक रचना करके ख्याति के अभिलाषी लेखकों को सचेत करने के लिए श्रीयुत जन्ध्याल शिवन्न शास्त्री नाम के एक आन्ध्रदेशीय सज्जन ने, गत फ़रवरी की सरस्वती में, अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं।

"आज-कल की कविता का तो कोई निश्चित रूप (ही) नहीं।... विशेष करके आज-कल युवक कवि 'मिस्टिक पोयट्री' (रहस्यमय कविता) लिखते हैं। ये लोग अपने अनुभव के किसी पहलू को लेकर इतनी अस्पष्ट कविता लिखते हैं कि स्वयं लेखक के सिवा दूसरे की समझ में वह नहीं आती। इनमें कई तो ऐसे भी लेखक हैं जो दूसरों को अपनी कविता का भाव भी नहीं समझा सकते। ऐसी कविताओं से क्या लाभ है, मैं नहीं जानता।"

इससे अधिक आश्चर्य की बात भला और क्या हो सकती है कि स्वयं कवि भी अपनी कविता का मतलब दूसरों को न समझा सके। यह शिकायत शिवन्न शास्त्री ही की नहीं, और भी अनेक कविता-प्रेमियों की है। ऊपर, एक जगह, लखनऊ के एक साहित्य-शास्त्री के उलाहने का उल्लेख हो ही चुका है। अपने प्रान्त के नामी साहित्य-सेवी, लेखक और सम्पादक राय साहब बाबू श्यामसुन्दरदासजी क्या

कहते हैं, सो भी सुन लीजिए—

"छायावाद और समस्यापूर्ति से हिन्दी-कविता को बहुत हानि पहुँच रही है। छायावाद की ओर नवयुवको का झुकाव है और ये जहाँ कुछ गुनगुनाने लगे कि चट दो-चार पद जोड़कर कवि बनने का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताओं का अर्थ समझना कुछ सरल नहीं है। कविता लिखने के अनन्तर बेचारा कवि भी उसके अर्थ को भूल जाता है और उसके भाव तक को समझाने मे असमर्थ हो जाता है। पूज्य रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिन्दी में हो रहा है। उस कवि श्रेष्ठ की विद्या-बुद्धि की समता करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ। ऐसी बातें कह जाना जिनका कोई अर्थ ही न समझ सके, ये कवि अपने कवित्व की पराकाष्ठा समझने लगे हैं।"

लीजिए, उसी पूर्वनिर्दिष्ट दोष को बाबू साहब भी दुहरा रहे हैं। व्यास ने महाभारत लिखा तो हम भी महाभारत लिखेंगे। होमर ने इलियड लिखा तो हम भी वैसा ही काव्य लिख डालेंगे। बात यह ? क्यों न ? यह इन कवियों के कवित्व की पराकाष्ठा तो नहीं, अविवेक की पराकाष्ठा अवश्य है।

कल्पना कीजिए कि कविचक्रचूडामणि चन्द्रचूड चतुर्वेदी छायात्मक कविता के उपासक हैं। आपको विश्व-विधाता से रचना-चातुर्य्य का वर्णन करना है। यह काम वे प्रत्यक्ष रीति पर करना चाहते नहीं। इसलिए उन्होंने किसी माली या कुम्भकार का आश्रय लिया और लगे उसके कार्य्य-कलाप की खूबियों का चित्र उतारने। अब तक माली या कुम्हार की कारीगरी का वर्णन सुन कर प्रति वाक्य या प्रतिपद्य में ब्रह्मदेव की कारीगरी का यदि भान न हुआ तो कवीश्वर जी अपनी कृति में कृत-कार्य कैसे समझे जा सकेंगे ? इस तरह का परोक्ष वर्णन क्या अल्पायास-साध्य होता है ? क्या यह काम किसी ऐसे-वैसे कवि के बूते का है ? रवीन्द्रनाथ ने जो काम कर दिखाया है वह क्या सभी ऐरे गैरे कर दिखा सकते हैं ? जब ये लोग अपने लेख का भाव कभी कभी

स्वयं ही नहीं समझा सकते तब दूसरे उसे क्या समझ सकेंगे ? अफ़-सोस तो इस बात का है कि ये इतनी मोटी मोटी बातें भी इनके ध्यान में नहीं आतीं। कविता का सबसे बड़ा गुण है उसकी प्रासादिकता। वही जब नहीं तब कविता सुन कर श्रोता रीझ किस तरह सकेंगे और उसका असर उन पर होगा क्या खाक़!

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उसकी पूर्ति के लिए अच्छी और बुरी कविता के अब केवल दो चार उदाहरण देना शेष हैं। ये उदाहरण हम उन्हीं सामयिक तथा अन्य पुस्तकों से देंगे जो हमारे सामने हैं और जो अभी हाल ही में प्रकाशित हुई हैं। पाठक यह न समझें कि ये उदाहरण ढूँढ़ ढूँढ़ कर परिश्रम-पूर्वक चुने गये हैं।

एक कविता का नाम है—"तब फिर?" ज़रा इस नाम की विलक्षणता पर भी ध्यान दीजिएगा। कविता नीचे देखिए—

तब फिर कैसा होगा मात!
धीरे धीरे पत्नहीन जब हो जावेगा यह द्विज-दल?
डाल डाल में, शाल शाल में उड़ न सकेगा उच्छृङ्खल।
म्लान-पुष्प सा झर जावेगा जब यह भी निर्बल, निश्चल,
नहीं गा सकेगा मृदु-स्वर से प्रथम-रश्मि का स्वागत-कल?
यह तो करता है उत्पात!
अति अनन्त नभ की नीरवता यह शब्दित कर हरता है,
विमल-वायु का कोमल मानस उड़उड़ कम्पित करता है।
मेरे सुन्दर धनुष-बाण में सभुद बैठते डरता है,
इसे बुलाने पर भी तो यह कभी न निकट विचरता है।
इसे नहीं यह अब तक ज्ञात—
जब तुम मुझको बैठाती हो कंटक-दल के आसन में,
उसे ग्रहण करती हूँ तब मैं कितनी प्रमुदित हो मन में।
शूल फूल से हो जाते हैं स्वकर्तव्य के पालन में,
क्या न बनी थी पुरी अयोध्या पञ्चवटी के भी वन में।

पाठक कृपापूर्वक बतलावें कि इस गोरखधन्धे से वे क्या समझे। डरता, विचरता, हरता और हो जावेगा, झर जावेगा, गा सकेगा आदि—पहले दो खण्डों की क्रियाओं का कर्ता तो 'द्विज-दल' जान पड़ता है। तीसरे खण्ड में 'तुम' किसके लिए आया है और 'ग्रहण करती हूँ' यह स्त्रीलिङ्ग क्रिया किसकी है ? फिर 'धनुष में' (धनुष के भीतर) कोई कैसे घुस कर बैठ सकता है ? हाँ, उसके ऊपर पक्षी अवश्य बैठ सकते हैं। खैर, इन बातों को आप जाने दीजिये, क्योंकि वैसे तो इसमें अनेक विचित्रतायें हैं। अच्छा, कवि का भाव क्या है, यह बताइए और इन सतरों को पढ़कर आप पर कुछ असर भी हुआ या नहीं, यह कहिए। क्या यह शब्दाडम्बर ही मात्र नहीं ? क्या इसके पाठ से आपका हृदय कुछ भी चमत्कृत हुआ ? किसी कविता में यदि कुछ हृदयहारी भाव न हो तो कम से कम वह श्रुति-सुखद तो होनी चाहिए। यदि उसमें कुछ चमत्कार हो तो और भी अच्छा। चमत्कार को भी अच्छी कविता का एक अङ्ग समझना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम्॥

काव्य चाहे सब प्रकार निर्दोष ही क्यों न हो और चाहे वह सुवर्णाभरण से अलंकृत ही क्यों न हो, यदि उसमें बहुमूल्य मणि के सदृश कोई चमत्कार उत्पन्न करनेवाला पद नहीं तो—कामिनियों के लावण्य-हीन यौवन के सदृश—भला वह किसे अच्छा लगेगा ?

द्विज का अर्थ है—दांत, पक्षी और ब्राह्मणादि वर्णत्रय। कविता में उड़ने और गाने आदि का उल्लेख है। इससे सूचित है कि कविता के पहले दो खण्डों में कवि किसी पक्षी की बात कह रहा है। पर अन्तिम खंड में उसने जो कुछ कहा है उसमें उसके मन की बात

ध्यान में नहीं आती। यदि ऐसी नीरस और अभावनीय सतरें भी कविता कही जा सकेंगी तो नीचे की व्यर्थ बक भी कविता ही क्यों न समझी जाय—

सिंघलदीप की पद्मिनी राब भुजावन जायँ
कोंठे पर ते गिर पड़ीं का खेहो कोहू का खेत

अब आप एक सत्कवि की सीधी-सादी कविता सुनिये। कवि भगवान् मुरलीमनोहर से विनय करता है—

होता दिन रात जहाँ तेरा दिव्य गुण-गान,
मन से कदापि जहाँ छूटता न तेरा ध्यान।
सुनते जहाँ हैं सब नित्य ही लगा के कान,
तेरी मनोहारी मृदु मंजु मुरली की तान॥
सुख से सदैव तेरे प्रेमी जन भाग्यवान्,
करते जहाँ हैं तेरा रम्य-रूप-रस-पान।
विनय यही है वहीं तनिक मुझे भी स्थान,
कर दे प्रदान दया करके दयानिधान!

कौन ऐसा सरसहृदय श्रोता होगा जो यह कविता सुन कर लोट पोट न हो जाय। भगवद्भक्त तो इसे सुन कर अवश्य ही मुग्ध हो जायँगे। अन्य रसिकों पर भी इसका असर पड़े बिना न रहेगा। कितनी ललित, प्रसादपूर्ण और कर्णमधुर रचना है। इसमें जो भाव निहित है वह सुनने के साथ ही समझ में आ जाता है। यह इसकी सबसे बड़ी खूबी है।

एक ओर उदीयमान बुध या बृहस्पति आदि ग्रहों के सदृश नहीं, सूर्य के सदृश छायावादी कवि की कविता सुनिये। इस कविता का नाम है—"आया!" याद रहे, यह आश्चर्यसूचक चिह्न भी कवि का ही दिया हुआ है—

ज्यों प्रदीप का अन्त हुआ तू अन्धकार के संग अहा!—
आगया मलयानिल सा, क्या इस तम-तरंग में छिपा रहा?

घोर निबिड़ में तू आयेगा यदि कोई यह बतलाता,
इस दीपक का मेरे द्वारा अन्त कभी का हो जाता।

× × ×

जो हो आओ रिक्तकरों से तेरा स्वागत करता हूँ,
जिसे हृदय में रक्खा था वह तव चरणों पर रखता हूँ।

इस गूढ़ार्थ-प्रेमी कवि की वह चीज़ अब पाठक ही ढूँढ़ने की तकलीफ़ गवारा करें जिसे वह अपने हृदय में, दीपक बुझने के समय तक, छिपाये बैठा था। इस कविता का पहला खंड पढ़कर छन्दःशास्त्र को तो किसी नदी या समुद्र में डूब मरना चाहिये। यह "घोर निबिड़" क्या चीज़ है? अन्धकार तो कहीं उस पंक्ति में है ही नहीं। कवि का हृदय ही घोर और निबिड़ हो तो हो सकता है। ऐसी ही कविता लिख कर हिन्दी के कुछ कवि अपने को धन्य मान्य रहे हैं!

इसके मुकाबले में अब आप एक पुराने कवि की कविता का आस्वादन कीजिए—

सुदामा तन हेरे तो रङ्क हू ते राव कियौ,
बिदुर तन हेरे तो राजा कियौ चेरे तें।
कूबरी तन हेरे तो सुन्दर सुरूप दियो
द्रोपदी तन हेरे तो चीर बढ़यौ टेरे तें।
कहै छत्रसाल प्रहलाद की प्रतिज्ञा राखी
हरनांकुस मार्‌यो नेक नजर के फेरे तें।
ऐरे अभिमानी गुरु ज्ञानी भये कहा भयौ
नामी नर होत गरुडगामी के हेरे तें।

इस पर सहृदयों से प्रार्थना इतनी ही है कि वही इसका फैसिला करें कि किसे वे कविता समझते हैं—इस ऊपर के अवतरण को या छायावादी कवि की "आया!" को।

अब दर्हाँ की चोट अपने बी० ए० पास होकर निकलने की खबर सुनानेवाले एक और कवि की करामात देखिए। आपकी कविता का

नाम है 'ज्वार'। ज्वार से मतलब इस नाम के अन्न से नहीं, समुद्र में उठनेवाले ज्वार-भाटे के ज्वार से है। कविजी के विशाल हृदयसागर में ज्वार उठने पर आपने जो कुछ फरमाया है वह यह है—

हृदय हमारा उमड़ रहा क्यों उठता है कैसा तूफ़ान !
उथल-पुथल यह मचा रहा क्यों ? और उठाता (क्यों ?)
मधुर उफ़ान ? ॥१॥
दुख की अन्तिम घड़ियों का मैं देख रहा हूँ क्या यह अन्त !
छिपा हुआ है इस 'पतझड़' में क्या जीवन का नवल
'वसन्त' ? ॥२॥
आता है क्या 'यह' मिलने को ? मचल रहा तू जिसको जान ;
सँभल !—कहीं तू भूल न जाना ! लख कर दोनों रूप समान ॥३॥

इसमें प्रश्नचिह्न, आश्चर्य्यचिह्न, कामा इत्यादि जितने हैं सब कविजी ही के दिये हुये हैं; या, सम्भव है, प्रेस के कर्म्मचारियों की कृपा से कुछ कूद पड़े हों। पाठक, इसमें ज्वार, तूफ़ान, वसन्त, पतझड़ आदि की प्रभूत विभूति से विभावान्वित होकर कविजी से आप सँभल कर पूछिए कि वे दो समान रूप किस किस के हैं। कवियों की वाणी में रस और चमत्कार होता है। वे पहेलियाँ नहीं बुझाते। नीरस बात को भी वे सरस ढँग से कहते हैं। वे मुर्दा शब्दों में भी जान डाल देते हैं। साधारण अर्थ में भी असाधारणता पैदा कर देते हैं। यदि कोई कहे—राहु नाम के राक्षस को मारनेवाले विष्णु भगवान् को नमस्कार है—तो कवि उसे फटकार बता देगा। वह कहेगा—क्या बकते हो ! अपनी बात को इस तरह कहो—

नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ

सत्कवियों की इस सरस वाणी को देखिए और बी० ए० पास कवि के प्रयुक्त शब्दों के तूफ़ान में पड़ कर हिन्दी-साहित्य के सौभाग्य की प्रशंसा कीजिए।

पाठक शायद कहें कि ऊपर अच्छी कविता के जो दो नमूने दिये

गये हैं उनमें भक्ति-भाव का प्रदर्शन है। इसी कारण वे श्रोताओं पर अपना प्रभाव डालते हैं। अच्छा तो जिसमें यह बात नहीं ऐसी भी एक सत्कविता सुन लीजिए। हाँ, उसके लिए स्थिति-स्थान से उठकर एक पुस्तक उठानी पड़ेगी। पर हर्ज नहीं। देखिए एक कवि अन्य कवियों से कहता है—

मृत जात को कवि ही जिलाते रस सुधा के योग से
पर मारते हो तुम हमें उलटे विषय के रोग से।
कवियो! उठो, अब तो भला कवि-कर्म की रक्षा करो,
सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो।

इसमें और कुछ गुण हो या न हो, पर इसमें व्यक्त किया गया कवि का हृद्भाव झट ध्यान में तो आ जाता है।

कवि-जन विश्वास रक्खें, कवियों के इस किङ्कर ने इस लेख में कोई बात द्वेष-बुद्धि से नहीं लिखी। जो कुछ उसने लिखा है, हित-चिन्तना ही की दृष्टि से लिखा है। फिर भी यदि उसकी कोई बात किसी को बुरी लगे तो वह उसे उदारता-पूर्वक क्षमा कर दे—

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं
मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु ते विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः।

महिषासुर के सिर ने जिसकी कठोर ठोकर खाई है और आनन्दमग्न पुरन्दर ने जिस पर फूल-माला चढ़ाई है, नूपुरों की मधुर-ध्वनि करनेवाला, भगवती अम्बिका का वही पादपद्म, हिन्दी के छायावादी तथा अन्य कवियों को इतना बल दे कि वे अपने असद्विचारों को दूर कर उन पर सदा विजय प्राप्ति करते रहें। अन्त में इस किङ्कर की यही कामना है।

गोपियों की भगवद्भक्ति

शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजो-रहित है। नदियों का औद्धत्य जाता रहा है; वे कृश हो गई हैं। सरोवर और सरितायें निर्मल जल से परिपूर्ण हैं। जलाशयों में कमल खिल रहे हैं। भूमि-भाग काशांशुकों से शोभित हैं। वनोपवन हरेहरे लोल-पल्लवों से आच्छादित हैं। आकाश स्वच्छ है; कहीं बादल का लेश नहीं। प्रकृति को इस प्रकार प्रफुल्ल-वदना देखकर, एक दफ़े, रात के समय, श्रीकृष्ण को एक दिल्लगी सूझी—

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

उस दिन शरत्पूर्णिमा थी। श्रीकृष्ण ने देखा, भगवान् निशा-नायक का बिम्ब अखण्ड भाव से उदित है; वह अपनी सोलहों कलाओं से परिपूर्ण है। नवीन कुङ्कुम के समान उसका अरुणबिम्ब रमा के मुखमण्डल को भी मात कर रहा है। उसकी कोमल-किरण-माला वन में सर्वत्र फैली हुई है। ऐसे उद्दीपनकारी समय में उन्होंने मुरली की मधुर तान छेड़ दी। उसकी ध्वनि ने गोपियों के मानस को बलात् अपनी ओर खींच लिया। वे उस लोकोत्तर निनाद को सुनकर मोहित हो गईं।

वंशी की ध्वनि सुन कर गोपियों की अन्य समस्त इन्द्रियाँ कर्ण-

मय हो गईं। अन्य इन्द्रियों के धर्म्म लोप हो गये। अकेली श्रवणेन्द्रिय अक्षुण्ण रही। श्रीकृष्ण के द्वारा बजाई गई वंशी की ध्वनि उससे सुन कर गोपियाँ आकुल हो उठीं। उन्होंने घर के सारे काम छोड़ दिये। शिशुओं को स्तन्यपान कराना और पतियों की शुश्रूषा करना भी वे भूल गईं। वे सहसा घर से निकल पड़ीं और उसी तरफ़ दौड़ीं जिस तरफ़ से वह मुग्धकारिणी ध्वनि आ रही थी। आकर उन्होंने देखा कि श्रीकृष्णजी अपने नटवर-वेश में खड़े वंशी बजा रहे हैं। धीरे धीरे उनके पास एक दो नहीं, सैकड़ों गोपियाँ एकत्र हो गईं। इतनी आतुर होकर, हड़बड़ी में वे घर से निकल पड़ी थीं कि उन्होंने अपने वस्त्राभूषण तक ठीक ठीक—जिसे जहाँ पर और जिस तरह पहनना चाहिये था—नहीं पहना था। उन्हें इस तरह आई देख श्रीकृष्ण को फिर एक दिल्लगी सूझी। आपने वंशी बजाना बन्द कर दिया और बोले—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥

स्वागत! स्वागत! ख़ूब आईं!। कहिये, क्या हुआ? कुशल तो है? व्रज पर कोई विपत्ति तो नहीं आई? किसलिए रात को यहाँ आगमन हुआ?

ज़रा इन प्रश्नों को तो देखिये। स्वागत-सत्कार के ढङ्ग पर तो विचार कीजिये। आपही ने तो बुलाया और आपही आने का कारण पूछ रहे हैं! यह दिल्लगी नहीं तो क्या है। और दिल्लगी भी बड़ी ही निष्करुण। बात यहीं तक रहती तो ग़नीमत थी। कृष्ण ने तो, इसके आगे, गोपियों को कुछ उपदेश भी दिया। उपदेश क्या दिया, जले पर नमक छिड़का। आपके व्याख्यान का कुछ अंश सुनिये—

रात बड़ी ही भयावनी है। जंगल बेहद घना है। हिंस्र जीव इधर-उधर घूम रहे हैं। भला यह समय भी क्या स्त्रियों के बाहर निकलने

का है ? तुम्हारे बाल-बच्चे रोते होंगे। तुम्हारे पति, पुत्र, पिता आदि कुटुम्बी तुम्हें ढूँढ़ते होंगे। राका-शशी की किरणों से रञ्जित कुसुमित कानन की सैर हो चुकी। रविनन्दिनी यमुना की तरल तरंगों की शोभा तुम देख चुकीं। यदि प्रेम-परवशता के कारण मेरे दर्शनार्थ तुम चली आईं तो तुम्हारी वह दर्शन-पिपासा भी पूर्ण हो गई। हो चुका। बस, अब तुम पधारो; अपने अपने घर लौट जाव; जाकर अपने अपने स्वामियों की शुश्रूषा करो—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

देखो, अपना पति दुःशील, दुर्भग, वृद्ध, जड, रोगी और निर्धन ही क्यों न हो, स्त्रियों को उसका त्याग कदापि न करना चाहिये। तुम जिस अभिप्राय से यहाँ आई हो वह अत्यन्त निन्द्य है। उससे तुम्हारे दोनों लोक बिगड़ जायँगे।

श्रीकृष्ण के इस व्याख्यान पर ध्यान दीजिए और फिर उनके उस प्रश्न पर विचार कीजिए। प्रश्न था कि तुम आईं क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं ही दे रहे हैं। फिर भी आपने प्रश्न करने की ज़रूरत समझी ! इसी से हम कहते हैं कि यह सारी दिल्लगी थी—दिल्लगी पर दिल्लगी।

प्रियतम कृष्ण का यह रुख देखकर और उनकी यह प्रश्नावली तथा उपदेशमाला सुनकर गोपियों के होश उड़ गये। उन्हें स्वप्न में भी यह खयाल न हुआ होगा कि उनके साथ इतना कठोर बर्ताव किया जायगा। वे थीं अबला। और अबलाओं का विशेष बल होता है रोना और आक्रोश करना, सिसकना और सिर धुनना। उसी का अवलम्ब उन्होंने किया। वे लगीं रोने। बड़े बड़े आँसुओं के साथ, लगा उनकी आँखों का काजल बहने। मुँह उनके सूख गये। अत्युष्ण श्वासोच्छ्वासों की मार से उनके बिम्बाधर कुम्हला गये। बड़ी देर तक वे अपने पैर के अंगूठों से ज़मीन कुरेदती हुई ठगी सी खड़ी रहीं।

हाय बड़ा धोखा हुआ। यह निष्ठुरता! हमारे अनन्य और निर्व्याज प्रेम का यह बदला! हमने जिसे अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया उसका यह निष्कृप व्यवहार! इसी तरह की बातें उन्होंने मन ही मन कीं। भगवान् कृष्ण स्वयं ही जान सके होंगे कि उनके उस धर्म्ममूलक ढकोसले की दुहाई ने गोपियों के कमल-कोमल हृदयों पर कितना निष्ठुर वज्रपात किया होगा। ख़ैर, अपने होश किसी तरह थोड़ा बहुत सँभाल कर उनमें से कुछ प्रगल्भा गोपियों ने कृष्ण के सदुपदेश का इस प्रकार सत्कार किया। वे बोलीं —

सरकार, आप तो बहुत बड़े पण्डित-प्रवर निकले। पण्डित ही नहीं, धर्मशास्त्री भी आप बन बैठे हैं। हमें आपके इन गुणों की अब तक ख़बर ही न थी। आपकी इन परमपावन कल्पनाओं का ज्ञान तो हमें आज ही हुआ। प्रार्थना यह है कि आप आदि-पुरुष भगवान् को भी जानते हैं या नहीं। मोक्ष की इच्छा रखने वाले, मुमुक्षु जन, अपना घर-द्वार, स्त्री-पुत्र; धन-वैभव, सभी सांसारिक पदार्थों का परित्याग कर के जब उनकी शरण जाते हैं तब, आप ही की तरह, क्या वे भी उन मुमुक्षुओं को वैसा ही शुष्क उपदेश देते हैं जैसा कि आपने हम लोगों को दिया? क्या कभी कोई पुरुष भगवान् के दरबार या द्वार से उसी तरह दुरदुराया गया है जिस तरह कि आप हमें दुरदुरा रहे हैं? आप को सर्वेश और सर्वात्मा समझ कर ही हम आपकी सेवा में उपस्थित

शास्त्रकारों के मत का मनन आपने खूब ही किया मालूम होता है। परन्तु, सरकार, इन ऋषियों से भी बड़े नहीं तो समकक्ष अन्य ऋषियों ने जो कुछ कह या लिख रक्खा है उस पर आपका ध्यान क्यों नहीं गया? उन्होंने तो हाथ उठा उठा कर, ज़ोरों से, यह कहा है कि जो जिस भाव से भगवान् की शरण जाता है उसका ग्रहण वे उसी भाव, से करते हैं। यदि यह ठीक है तो आपके धर्म-शास्त्र हमारे लिए रद्दी नहीं तो कोरे काग़ज़ के टुकड़े अवश्य हैं। हमने सुन रक्खा है कि आपही समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। बता दीजिए, यह सच है या झूठ। यदि सच है तो हमारे उस हार्दिक भाव के ग्रहण के लिए भी, जिस पर आपका आक्षेप है, आपके विशाल हृदय में कुछ स्थान मिल सकता है या नहीं। बताइए। आप ही इसका निर्णय कर दीजिए। बोलिए, बोलिए—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरंङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्म्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

धर्म्मशास्त्रज्ञ बनकर आपने यही फ़रमाया है न कि पति, पुत्र, सुहृद् और अन्य कुटुम्बियों के विषय में स्त्रियों को अपना धर्म्म-पालन करना चाहिये—अर्थात् उनके प्रति स्त्रियों का जो कर्तव्य है उससे उन्हें च्युत न होना चाहिये। यही न? अच्छा तो अब आप यह भी फ़रमा दीजिए कि जितने देहधारी हैं उन सबके ईश्वर, उन सबकी आत्मा, उन सब के बन्धु भी आप ही हैं या नहीं? अगर हैं और अगर दिव्य-दृष्टि वाले ऋषियों का यह सिद्धान्त भी सच है कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्", तो बस हो चुका। तो हम अपने पति, पुत्र, सखा और सहोदर आदि की भावनायें सब आपही में करती हैं। आपही हमारे पिता, आपही हमारे पुत्र, आपही हमारे पति और आप ही हमारे सब कुछ हो। हमारी भावनाओं पर आपका क्या ज़ोर! हम मिट्टी को यदि

सुवर्ण समझ लें, पत्थर को यदि रत्न समझ लें, विष को यदि अमृत मान लें तो इससे किसी का क्या हर्ज? यदि आप तनुभृज्जनों की आत्मा हैं—यदि आप घट घट में व्यापक हैं—तो किसी के पिता, किसी के पति, किसी के पुत्र आप स्वयं ही बन चुके। फिर भला किस युक्ति से आप अपने में हमारी पति भावना से छुटकारा पा सकते हैं? आप अपनी धर्म्मज्ञता का अम्बर या आडम्बर समेटिए। उसे औरों के लिए रख छोड़िए—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशाभृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

हे कमललोचन, सर्वदर्शी विद्वान् तो आप ही को सबका भोक्ता और सबका ईश्वर समझते हैं। इसी से आप अन्तर्यामी आत्मा ही से वे प्रेम करते हैं और उसी को हर तरह नित्यप्रति रिझाने की चेष्टा में लगे रहते हैं। आपके मुकाबले में पति, सुत, बन्धु आदि जन कोई चीज़ नहीं। उनको रिझाना व्यर्थ नहीं, नाना प्रकार के क्लेशों का कारण भी है। जिसने उन्हें रिझाया—जिसने उनसे विशेष प्रेम किया—वह तो भवबन्धन में सर्वथा ही बँध गया। उसका छुटकारा कहाँ? उसके लिए तो आप अपने को दुर्लभ ही समझिए। इससे आप अब दया कीजिए। हम आपको अपना परमाराध्य ईश्वर ही समझ कर आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। आपकी इस प्रकार सेवा करने की लालसा चिरकाल से हमारे हृदय में जागृत है। उसे पूर्ण कर दीजिए। हमारी आशालता के टुकड़े टुकड़े न कर डालिए। हमें निराश न कीजिए। अपने विरद को सँभालिए। अपना पाण्डित्य और किसी मौके के लिए रख छोड़िए। हम तो अपना सर्वस्व—तन और मन—आपके अर्पण कर चुकीं। अतएव, अब यथा-योग्य दया करो।

इतने ही तक नहीं, गोपियों का अनन्य प्रेम और उनकी

निर्व्याज भक्ति देखकर भगवान् कृष्ण ने उनकी सेवा को स्वीकार करके उन्हें कृतकृत्य कर दिया। परन्तु उन्होंने उन प्रेयसी गोपियों के साथ दिल्लगी करना फिर भी न छोड़ा। एक बार, उसी रात को, वे अचानक उनके बीच से अन्तर्धान हो गये। परन्तु यह दूसरा क़िस्सा है। इससे इसे जाने दीजिए।

श्रीकृष्ण की इस लीला पर कुछ लोगों के द्वारा बड़ी ही कड़ी टीकायें की गई हैं और अब तक की जाती हैं। स्वयं पुराणकारों ही ने गोपियों को "व्यभिचारिणी" बताकर फिर उनके, इस कलंक का परिमार्जन किया है। इस लीला की असलियत क्या थी, यह जानना तो सर्वथैव असम्भव है। जो कुछ इस विषय में कहा जा सकता है, केवल अनुमान और तर्क ही की सहायता से कहा जा सकता है। पुराणों की रचना चाहे वेदव्यास ने की हो, चाहे बादरायण ने की हो, चाहे कृष्णद्वैपायन ने की हो, चाहे और किसी ने की हो, उनका कर्त्ता आत्मदर्शी ऋषि न भी हो तो बहुत बड़ा पण्डित या ज्ञानी ज़रूर ही रहा होगा। इस दशा में पुराणोक्तियों का खण्डन करना महज़ मामूली आदमियों का काम नहीं। फिर भी यदि कोई अनधिकारी पुरुष उन उक्तियों की प्रतिकूलता करने का साहस करेगा तो उसका कथन पागल का प्रलाप समझ लेने में क्या हर्ज ? अतएव कुछ-कुछ इसी तरह का प्रलाप आप सुन लेने की उदारता दिखाइए। श्रीमद्भागवत के कर्त्ता का कहना है—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

अर्थात् जारबुद्धि से भी श्रीकृष्ण परमात्मा की संगति करने के कारण गोपियों के सांसारिक बन्धन क्षीण हो गये और उन्होंने अपनी गुणमयी देह का त्याग कर दिया। इस पर निवेदन है कि गोपियाँ बहुत पहले ही से कृष्ण को ईश्वर, परमेश्वर, सर्वात्मा, परमात्मा कहती चली आ रही हैं। पुराण-प्रणेता ने स्वयं ही उनके मुँह से ये

कहलाई हैं। फिर उनकी जार-बुद्धि कहाँ रही? वे तो उन्हें परमात्मा ही समझ कर, उनके पास, उनकी सेवा, अपने मनोऽनुकूल करने के लिए, उपस्थित हुई थीं। परमात्मा होकर भी श्रीकृष्ण जार नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवत में उसके कर्ता ने एक नहीं, अनेक स्थलों में, श्रीकृष्ण को परमपुरुष, आदिपुरुष, परमात्मा आदि शब्दों से याद किया है। परन्तु ऐसे स्थलों में भी उसने बेचारी गोपियों को, लगे हाथ, व्यभिचार-दुष्ट भी कह डालने की कृपा की है। देखिए—

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।

इन वनवासिनी नारियों के कृष्ण-परमात्मा- विषयक अलौकिक भावों की प्रशंसा करके उन पर लौकिक लाञ्छन का भी आरोप करना कहाँ तक संगत हो सकता है, इसका निर्णय यदि कोई ऋषि-मुनि ही करें तो वह सर्वमान्य हो सकता है। हमारी प्रार्थना या निवेदन को तो पाठक हमारा प्रलाप मात्र समझें। हां, एक बात को याद रक्खें। व्यभिचारी शब्द के वि+अभि+चर को ध्यान में रख कर उसका धात्वर्थ न करें, लोक में उसका जो अर्थ समझा जाता है वही करें।

पुराणकारों ने श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी, परमात्मा से जब मान लिया तब भक्तों, प्रणयियों और दास्यभाव से अलौकिक रसों के लिए क्या उन्होंने कुछ ऐसे भी नियम कर दिये हैं

आरोप करना छोड़िए। दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकतीं। यदि श्रीकृष्ण परमात्मा थे और गोपियों ने उन्हें पति-भाव से ग्रहण किया तो वे सर्वथा निर्दोष ही नहीं, मङ्गलमूर्ति समझी जाने योग्य और समस्त संसार की दृष्टि में पूजनीय हो चुकीं। आप श्रीमद्भागवत को सरसरी ही दृष्टि से पढ़िए। आप देखेंगे कि गोपियों ने अपने इष्टदेव को जहाँ प्रिय, प्रियतम, अंग, सखा इत्यादि शब्दों से सम्बोधन किया है वहाँ उन्हें वे बराबर ईश्वर, परमेश्वर और परमात्मा भी कहती आई हैं। अतएव उनके प्रेम के सम्बन्ध में दुर्भावना के लिए मुतलक़ ही जगह नहीं। जिस भगवद्गीता को परम पण्डित भी संसार में सबसे अधिक महत्त्व की पुस्तक समझते हैं उसी में कृष्ण-भगवान् ने खुद ही कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अतएव गोपियों ने यदि पतिभाव से उनका भजन किया तो क्या कोई ग़ज़ब की बात हो गई? उन्हें वही भाव प्रिय था। कंस और शिशुपाल आदि ने उन्हें और भाव से देखा था। कृष्ण ने उनके उस भाव का आदर ही किया और उन्हें वही फल दिया जो अन्य भाव के साधकों को प्राप्त होता है। परमात्मा होकर कृष्ण जब स्वयं ही कह रहे हैं कि जो जिस भाव से मेरा भजन करता है, मैं उसे उसी भाव से ग्रहण करता हूँ तब शङ्का और सन्देह के लिए जगह कहाँ?

अच्छा, इन गोपियों के पिता, पुत्र, पति आदि कुटुम्बी कृष्ण को क्या समझते थे? जिस कुमार कृष्ण ने बड़े-बड़े दैत्यों को न सही, अपने से अनेक गुने बली और पराक्रमी केशी, बक, अघ आदि प्राणियों को पछाड़ दिया, जिसने कालिय के सदृश महाविषधर विकराल नाग का दर्प-दलन कर दिया, और जिसने गोवर्द्धन-पर्वत को हाथ पर उठा लिया, उसे यदि वे परमात्मा न समझते थे तो कोई बहुत बड़ा पराक्रमी, प्रभुतावान् और महत्त्वशाली पुरुष जरूर ही समझते थे। तभी उन्होंने अपने कुटुम्ब की स्त्रियों को कृष्ण से प्रेम करते देख उनकी

विशेष रोकटोक नहीं की। यदि करते तो यह कदापि सम्भव न था कि सैकड़ों स्त्रियां उस रात को इस तरह अपने-अपने घरों से वन को दौड़ जातीं। शायद ही कुछ स्त्रियाँ उस रात को वहाँ जाने से रह गई होंगी। अच्छा, जो वहाँ गईं उनके लौटने पर भी, उनके सम्बन्ध में, कोई घटना या दुर्घटना नहीं हुई। कम से कम पुराणों में इसका उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया कि उन गोपियों को उनके कुटुम्बियों ने घर से निकाल दिया, या उनका त्याग कर दिया, या उन्हें और ही कोई सजा दी। इससे सूचित होता है कि गोपियों के कुटुम्बी भी श्रीकृष्ण को कोई अलौकिक पुरुष नहीं तो महात्मा जरूर ही समझते थे। अतएव अपनी स्त्रियों को उनसे प्रेम करते देखकर भी या तो उन्होंने उनके उस काम को बुरा नहीं समझा या यदि बुरा भी समझा तो उनके उस आचरण को देखा-अनदेखा कर दिया।

परन्तु यदि आप यही मान लें कि गोपियों का व्यवहार लोक-दृष्टि से निन्द्य था तो परलोक-दृष्टि से तो वह प्रशंसनीय ही माना जायगा। भगवद्भक्त अपनी धुन के पक्के होते हैं। उन्हें उनके निश्चित मार्ग से कोई हटा नहीं सकता। उन्हें निन्दा और स्तुति की परवा भी नहीं होती। वे रूढ़ि और लोकाचार के दास नहीं होते। मीरा की क्या कम निन्दा हुई? उन पर क्या लांछन नहीं लगाये गये? उनके कुटुम्बियों ने क्या उनका परित्याग नहीं किया? परन्तु यह सब होने पर भी मीरा ने यह कहना न छोड़ा—

तुलसीदास ने कहा भी है—

तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु ब्रज बनितन पति त्यागो मे जग मङ्गलकारी॥

प्रेमी को पूरा अधिकार है कि वह अपने उपास्यदेव का आराधन जिस भाव से चाहे करे। ज्ञानयोग और राजयोग आदि के द्वारा भगवान् का सान्निध्य या मोक्ष प्राप्त कर लेना साधारण साधकों का काम नहीं। वह मार्ग बहुत कठिन है। पर प्रेम और भक्ति का मार्ग सुलभ और सुखसाध्य है। आप शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र देखिए। उनमें इस मार्ग की कितनी महिमा गाई गई है। गोपियों के लिए योगसाधन अथवा ज्ञान-प्राप्ति करना असम्भव नहीं तो महा कठिन अवश्य था। उनके लिए वही साधना उपयुक्त थी जिसका आश्रय इन्होंने लिया। अतएव ये कल्याणी गोपिकायें ज्ञानियों और योगियो के भी वन्दन और प्रणमन की पात्र हैं।

ब्रज छोड़ आने पर एक बार श्रीकृष्ण ने इन गोपियों का समाचार जानना चाहा। एतदर्थ उन्होंने उद्धव को चुना। उन्हीं उद्धव का जिन्होंने श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में वेदत्र वेदान्त बूँका है और महाभारत में राजनीति पर बड़े बड़े लेक्चर झाड़े हैं। आप अपनी ज्ञान-गरिमा की गठरी बाँध कर ब्रज पहुंचे और लगे गोपियों को ज्ञानोपदेश करने। परन्तु वहाँ गोपियो ने उन्हें इतनी कड़ी फटकार बताई कि उनका ज्ञान-सागर बिलकुल ही सूख गया। गोपियों के प्रेम की आँधी में उनका ज्ञानयोग यहाँ तक उड़ गया कि वे उलटा उन्हीं 'व्याभिचारदुष्ट' वनचरी नारियों के चेले हो गये। उन्हें अन्त में भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ी —

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

इन गोपियों के चरणों की रज वृन्दावन के जिन पेड़-पौधों लता-गुल्मादिकों पर पड़ती है वे धन्य हैं—उनके सदृश पावन कोई चीज़ नहीं। ये गोपियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं। इ दुस्त्यज कुटुम्बियों और सर्व-सम्मत तथा परम्परागत पथ का परि करके ये उस पथ से चलनेवाली हैं जिसे श्रुतियाँ ढूँढ़ती फिरत पर उन्हें ढूँढ़े नहीं मिलता। इसी पथ की बदौलत ये भगवान् पदवी को प्राप्त करने में समर्थ हुई हैं। अतएव मेरी कामना है मैं इसी व्रज के किसी पेड़, पौधे, लता या गुल्म के रूप में जन्म लेकर अपने को कृतार्थ करूँ। उद्धव की यह उक्ति सुनकर ऐसा भगवत्प्रेमी है जिसका शरीर कण्टकित और कण्ठ गर न हो जाय?

हमने अपने इस जन्म में न तो कभी साधु-समागम किया किसी सुकृत ही का सम्पादन किया और न किसी तरह का और कोई सत्कर्म किया। इस कारण उद्धव के सदृश कामना कर इम अधिकारी नहीं। अतएव, हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि पूर्वजन्मों में हमने कभी कोई सत्कार्य किया हो तो भगवान् व्रजमण्डल के किसी करील का कांटा ही बना देने की कृपा करें।

नाटक

संस्कृत से एक धातु 'नट्' है। 'नट्' धातु में अच् प्रत्यय लगाने से नट् शब्द बना है, उसका अर्थ नाचने वाला है। अर्थात् नटों का व्यवसाय नाचना है। नाट्य और नाटक शब्द भी 'नट्' धातु ही से बने हैं। ये दोनों शब्द नटों के कर्म व्यवसाय के बोधक हैं। अर्थात् नटों का कर्म नाट्य अथवा नाटक कहलाता है। इससे यह सूचित हुआ कि नाट्यशास्त्र में नटों से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों अथवा भावों का वर्णन होना चाहिए। यह यथार्थ है। इस शास्त्र में नट, नटी और उनके सहयोगियों के कार्य-कलाप से सम्बन्ध रखने वाली बातों ही का वर्णन है।

नाटक का दूसरा नाम रूपक भी है। नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने इस दूसरे ही नाम का अपने ग्रन्थों में विशेष प्रयोग किया है। नाटक में प्रत्येक पात्र किसी दूसरे का रूप धारण करके उसी के अनुसार बर्ताव करता है। अर्थात्, यदि दुष्यन्त का वर्णन आता है तो उस पर दुष्यन्त के रूप का आरोप होता है और दुष्यन्त का रूप धारण करके जैसे हाव-भाव दुष्यन्त ने किये होंगे वैसे ही हाव-भाव वह भी अपने को दुष्यन्त ही मान कर सबको दिखलाता है। ऐसा करने में एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति का आरोप होता है। इसी लिए, नाट्य का दूसरा नाम रूपक रखा गया है। रूपक का लक्षण 'रूपारोपात्तु रूपकम्' है अर्थात् जिसमें रूप का आरोप किया जाता है वह रूपक है।

काव्य दो प्रकार के हैं एक श्रव्य, दूसरे दृश्य। जिसमें कवि किसी वस्तु का स्वयं वर्णन करता है वह श्रव्य काव्य है। अर्थात्, जिसे सुनने से आनन्द मिलता है उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। रघुवंश, किरात, नैषध रामायण, सतसई आदि श्रव्य काव्य हैं। जिसमें कवि स्वयं कुछ नहीं कहता, जो कुछ उसे कहना होता है उसे वह उन बातों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों से कहलाता है जो उसे दृश्य काव्य कहते हैं। अर्थात् जिसे देख कर आनन्द मिलता है वह दृश्य काव्य है। शाकुन्तल, रत्नावली, विक्रमोर्वशीय, सत्यहरिश्चन्द्र; और नील देवी आदि दृश्य; काव्य हैं।

किसी वस्तु का वर्णन सुनने से जितना आनन्द मिलता है, उससे बहुत ही अधिक उसे प्रत्यक्ष देखने से मिलता है। देखने और सुनने में बड़ा अन्तर है। अतएव जिस काव्य के द्वारा किसी कवि की कविता का रस नेत्र द्वारा साक्षात पान करने को मिले वही काव्य श्रेष्ठ है।

सूचक शारीरिक चिह्नों से सब ओर दिखलाया जाय उसे अभिनय कहते हैं। नाटक में हर्ष, शोक आदि मानसिक विकार और हँसना, रोना, चलना, फिरना, कहना, सुनना आदि शारीरिक विकार किंवा कार्य, सब, अभिनय द्वारा तद्वत् दिखलाये जाते हैं। अभिनय में मनुष्य की सब अवस्थाओं और उसके सब विकारों का अनुकरण करके देखनेवालों को उनका प्रत्यक्ष अनुभव कराया जाता है। ये अभिनय इस प्रकार किये जाते हैं कि दर्शकों को यह नहीं प्रतीत होता कि वे खेल देख रहे हैं। यदि ऐसा न हो तो यह समझना चाहिए कि अभिनय ठीक नहीं हुआ।

नट शब्द के धात्वर्थ का विचार करने से जान पड़ता है कि पहले पहल इस देश में जब नटों ने खेल आरम्भ किया तब वे केवल नाचते ही थे। 'अभिनय' में जिन-जिन क्रियाओं का समावेश होता है वे सब क्रियायें उस समय प्रचलित न थीं। यदि होतीं तो शायद नट के लिए कोई दूसरा ही नाम दिया जाता। और यही ठीक भी जान पड़ता है, क्योंकि आदि में सभी कलायें अपूर्ण रहती हैं; उनकी उन्नति धीरे-धीरे होती हैं।

इसका पता लगाना कठिन है कि किस समय से अभिनय ने अपना पूर्ण रूप धारण किया। नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत मुनि हैं। वे बहुत प्राचीन हैं। परन्तु यह नहीं निश्चित कि वे कब हुए। उनके भी पहले नाटक लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरत को नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी सूत्र न बनाने पड़ते। उन्होंने एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने नाट्यशास्त्र के लक्षण विस्तारपूर्वक दिये हैं। जिस प्रकार भाषा के अनन्तर व्याकरण बनता है, उसी प्रकार लक्ष्य-ग्रन्थों के अनन्तर लक्षण ग्रन्थ बनते हैं। इसी लिए यह कहना निर्मूलक नहीं कि भरत के पहले अनेक नाटक बन चुके होंगे। उन नाटकों में नाट्य कला के दोष देखकर उस शास्त्र के लक्षण लिखने की इच्छा भरत को हुई होगी। अर्थात् भरत के बहुत पहले ही, भरतखण्ड में नाटक ग्रन्थ बन चुके थे और उनका प्रयोग भी होता था। व्याकरण के

आचार्य पाणिनि भरत से भी पुराने हैं। भाषा उत्पन्न होने पर पहले व्याकरण की आवश्यकता होती है, नाटक इत्यादि पीछे बनते हैं। अतएव यह अनुमान अनुचित नहीं कि पाणिनि मुनि भरत से पहले हुए हैं। यदि न भी पहले हुए हों तो वे कुछ आज के तो हुई नहीं; प्राचीन अवश्य हैं। उन्होंने अपने व्याकरण में नाट्यशास्त्र के दो आचार्यों के नाम लिखे हैं। शिलालिन् और कृशाश्व। इससे यह सिद्ध है कि पाणिनि और भरत के पहले भी नाट्यकला का प्रचार इस देश में था। प्रचार ही नहीं, किन्तु उसके लक्षण ग्रन्थ तक बन गये थे। नाट्य-कला की आदिम अवस्था में नट केवल नाचते ही थे; ठीक अभिनय नहीं करते थे। परन्तु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाट्यकला की उन्नति हो चुकी थी। उस समय अंग से, वाणी से और वेश इत्यादि से पूरा अभिनय होने लगा था। इसका प्रमाण पतंजलि मुनि का व्याकरण महाभाष्य है। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते समय पतंजलि कहते हैं कि नट गाते थे और दर्शक उनका गाना सुनने जाते थे।

मानते हैं और उनको अत्यन्त प्राचीन समझते हैं उनके लिए तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। परन्तु जो ऐसा नहीं समझते उनको हरिवंश के प्राचीनत्व का प्रमाण दरकार होगा। अतएव उनको बंकिम बाबू के कृष्णचरित्र का प्रमाण देते हैं। वहाँ उन्होंने सिद्ध किया है कि हरिवंश पुराण महाभारत से थोड़े ही दिन पीछे बना है। अतएव पुराणों में नाटकों के खेले जाने का पता लगने से यही मानना पड़ता है कि यह कला हम लोगों ने बहुत प्राचीन समय से सीखी थी।

भरत ने अपने ग्रन्थ में शिलालिन् और कृशाश्व आदि आचार्यों का नाम तो नहीं दिया; परन्तु उनके लिखने के ढंग से यह सूचित होता है कि उनके पहले नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी और कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरत मुनि अपने सूत्रों को इतना सर्वाङ्ग-सुन्दर शायद न बना सकते और सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का विवेचन भी उसमें न कर सकते। सुना जाता है कि नाट्य-कला को भरत ने ब्रह्मा से सीखा था। यदि ब्रह्मा ने पहले पहल यह कला भरत को सिखलाई तो कृशाश्व आदि ने उसे किससे सीखा? वे तो भरत से भी पहले हुए जान पड़ते हैं। परन्तु इन प्राचीन बातों पर तर्क-वितर्क करते बैठना व्यर्थ कालक्षेप करना है। अतएव हमारे लिए इतना ही जानना बस है कि नाट्यकला बहुत ही प्राचीन कला है और उसके कई आचार्य हो गये हैं, जिनमें से केवल भरत मुनि का सूत्र-बद्ध ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। भरत के ग्रन्थ के अनन्तर चाहे जितने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी बने हों, परन्तु इस समय एक ही और प्रमाणिक ग्रन्थ इस विषय का पाया जाता है। इसका नाम दशरूपक है। इसे धनंजय नाम के कवि ने ग्यारहवें शतक में लिखा था। इसमें नाट्यशास्त्र का बहुत ही अच्छा विवरण है। यह ग्रन्थ सर्वमान्य है। संस्कृतज्ञ विद्वान् इसे विशेष प्रामाणिक मानते हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-प्रकाश, काव्यादर्श, सरस्वती-कण्ठाभरण और साहित्यदर्पण आदि में भी नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त वर्णन है।

आरम्भ में अप्सरायें और गन्धर्व आदि नाटकों का अभिनय देवताओं के सम्मुख करते थे। उन्हीं का अनुकरण मनुष्य करने लगे और देवालयों में अभिनय होने लगा। पहले केवल नाच था, फिर नाच के साथ गाना भी होने लगा, और अन्त में क्रम क्रम से अभिनय ने अपना रूप धारण किया। प्राचीन समय में देवताओं के उत्सवों पर नाटकों का प्रयोग होता था। बंगदेश की यात्रा और इन प्रान्तों की रामलीला पुराने नाटकों का चिह्न जान पड़ती है। धीरे-धीरे राजाओं की रंगशालाओं में, मनोरंजन और उपदेश के लिए, नाटकों का खेल होने लगा। इस प्रकार क्रम क्रम से नाट्यकला ने उन्नत रूप धारण किया। और उसका देशव्यापी प्रचार हुआ। परन्तु बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में बने हुए थियेटर (नाट्यशाला) के समान सर्वसाधारण के लिए कोई नाट्य-मन्दिर, इस देश में, पहले कभी न था।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, नाटक का व्यापक अर्थ नकल (अनुकरण) करना है। किसी के इशारों को, किसी की बातों को और किसी के कार्यों को तद्वत् करके अथवा कहके बतलाना नाटक कहलाता है। मनुष्य में स्वभाव ही से अपने मन के विचारों को वाणी से अथवा अंग-भंग

होने के लिए अनुकरण से उत्पन्न हुए कार्यों की भाषा के साहित्य में कोई रूप प्राप्त होना चाहिए। अनुकरण को कोई रूप मिले बिना उसे साहित्य में स्थान नहीं मिल सकता, अतएव वह साहित्य की शाखा भी तब तक नहीं हो सकता। ऐसी अनेक मनुष्य-जातियाँ पृथ्वी पर है जिनमें अनुकरण बराबर होता है; परन्तु वह अनुकरण नाटक के रूप में नहीं होता। इसी लिए उनमें नाट्य-साहित्य का अभाव है।

अनुकरण को नाटक का नाम प्राप्त होने के लिए नियमों की आवश्यकता होती है। जिन नियमों के अनुसार अनुकरण किया जाता है उन नियमों के समुदाय ही को नाट्यशास्त्र कहते हैं। इस अनुकरण का पर्यायवाचक शब्द अभिनय बहुत व्यापक शब्द है। नाटक के कार्यों के सूचक सब भाव इस शब्द में बँधे हुए हैं। इसके उच्चारण करते ही रंगभूमि में अनुकरण करने की सब रीतियों का उदय मन में तत्काल हो जाता है। अतएव अनुकरण के स्थान में अभिनय शब्द का ही उपयोग उचित है। भरत और धनंजय ने अपने अपने ग्रन्थों में अभिनय के नियमों का विस्तृत वर्णन किया है। इन नियमों में से भी कोई कोई नियम बहुत ही सूक्ष्म है। वे ऐसे हैं कि नाटककार कवियों ने उनका बहुधा उल्लंघन किया है। स्थूल नियमों में से भी, देश-दशा और समय के परिवर्तन के कारण, बहुतेरे नियम यदि आजकल काम में न लाये जायँ तो कोई हानि नहीं। सच तो यह है, नियम पीछे बनाये गये हैं नाट्यकला का उदय पहले ही हुआ है। अनुकरण करने की रीतियाँ अनन्त हैं। कोई यह नहीं कह सकता कि अमुक ही रीति से अनुकरण हो सकता है। अतएव मानसिक विकारों के परम ज्ञाता प्रतिष्ठित कवि अपनी अनन्त-अनुकरणशीलता के बल से यदि नाट्य-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन भी कर जायँ तो कोई आश्चर्य अथवा दोष की बात नहीं। नाट्यशास्त्र के नियमों को पढ़कर ही कोई अच्छा नाटककार नहीं हो सकता। अच्छा नाटककार वही हो सकता है जो अच्छा कवि अथवा अच्छा लेखक है और जो अपनी लिपिबद्ध वाणी

में मानसिक विकारों का सजीव चित्र खींच सकता है। यदि ऐसे कवि अथवा लेखक ने नाट्यशास्त्र पढ़ा है तो और भी अच्छा है; परन्तु यदि नहीं भी पढ़ा है—नाटक की स्थूल ही प्रणाली वह जानता है तो भी उसके रचित नाटक से मनुष्यों का अवश्य मनोरंजन होगा। अनु-करण करने की शक्ति का होना उसमें प्रधान है। इस शक्ति के बिना भरत और धनंजय, अरिस्टाटल और ल्यसिंग, कार्नील और ड्राइडन बहुत कम काम दे सकते हैं।

अनुकरण को उत्पन्न करनेवाली इच्छा अथवा शक्ति ही से नाटक-कार का कार्य आरम्भ होता है। इस शक्ति के बल से नाटककार के मन में पहले एक भाव उत्पन्न होता है। भाव के अनन्त विषय की उत्पत्ति होती है। अतएव भाव ही नाटक का बीज है। भाव ही पर विषय अवलम्बित रहता है। शाकुन्तल की कथा उसकी सामग्री मात्र है। उसे अनुकरण द्वारा प्रत्यक्ष दिखलाने का भावोदय ही अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रधान कारण है। भावोदय होने पर सामग्री, अर्थात् विषय कवि के इच्छानुकूल घट बढ़ सकता है। यदि कवि चाहे तो सारे संसार को वह अपने नाटक का विषय कर सकता है। नाटक की सामग्री को नाटककार आचार-व्यवहार के अनुसार, रूढि के अनुसार, मनुष्य की रुचि के अनुसार और स्वयं अपने आग्रह अथवा अनुभव के अनुसार न्यूनाधिक किंवा परिवर्तित अवस्था में दिखला सकता है। परन्तु विषय अर्थात् सामग्री, का कार्य में परिणत होना अर्थात् अनु-करण द्वारा भली भाँति दिखलाया जाना, नाटककार के लिए सबसे अधिक आवश्यक काम है। अपूर्ण और अनुचित अनुकरण अभिनय-दर्शकों को कदापि अच्छा नहीं लगता। यथार्थ अभिनय होने के लिए नाटककार को मनुष्य मात्र की चित्तवृत्ति से परिचित होना चाहिए, सब प्रकार के व्यवहार, सब प्रकार की मानुषिक चेष्टायें, सब प्रकार की बातचीत और सब प्रकार की रसज्ञता का ज्ञान उसे होना चाहिए। जो रूप जो व्यक्ति धारण करे उसे उसी का वेश, उसी की चाल,

उसी की वाणी, उसी की चेष्टा और उसी की मनोवृत्ति का यथार्थ, याथातथ्य, जैसे का तैसा, अभिनय करके दिखलाना चाहिए। यह अनुकरण ऐसा उत्तम होना चाहिए कि देखनेवालों के मन में यह भाव न उदित हो कि वे नाटक देख रहे हैं। उन्हें यही भावित होना चाहिए कि वे अभिनय की गई घटना का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। इसकी सिद्धता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि देखनेवाले अभिनय करनेवाले ही के से विकार प्रकट करने लगें। अर्थात् अभिनयकार को कारुणिक अभिनय करते देख देखनेवाले की आँखों से आँसू गिरने लगें। उसे भयभीत हुआ देख वे भी भयभीत हो जायँ। और उसके हास्यरस पूरित अभिनय को देख दर्शक भी हँसने लगें। इन बातों का होना तभी सम्भव है जब कवि मनुष्य-जाति के मानसिक विकारों से पूरा पूरा परिचित होकर उनका अनुभव स्वयं अपने मनमें कर सकता है और उसके साथ ही सब प्रकार के व्यवहारों में वह दक्ष भी होता है। क्योंकि, इन्हीं बातों को कवि व्यक्ति विशेषों के द्वारा अभिनयपूर्वक दिखलाता है। अतएव नाटककार होना बहुत कठिन काम है।

मनोरंजकता का प्रधान कारण रस है। रस की सिद्धि अभिनय पर अवलम्बित रहती है। यदि अभिनय अच्छा न हुआ तो रसहानि हो जाती है, और रसहानि होने से नाटक ही सत्यानाश जाता है। रसहानि न होने के लिए अभिनय द्वारा दिखलाई गई वस्तु का यथार्थ अनुकरण होना चाहिए। जीवन की घटनायें, इतिहास में वर्णन की गई बातें, नाटक के विषय से सम्बन्ध रखने वाली कथायें, ये सब, एक प्रकार की प्रचण्ड लहरें हैं। इन सब को अस्त-व्यस्त न बहने देना चाहिए। इन्हें एक शृङ्खला से बाँधकर यथास्थान रखना और अपेक्षानुसार, जिसका जब समय आवे, उठने देना चाहिये। अर्थात् अनेक बातों को एक शृङ्खला से बाँध कर यथाक्रम, यथा समय और यथोचित रीति पर उनको अभिनय करना चाहिए। जिस वस्तु का अभिनय

होता है उसके सब अवयव जब यथास्थान रखकर उचित शब्द, उचित वेश-भूषा और उचित अङ्ग-भङ्गी द्वारा दिखाये जाते हैं तभी देखनेवालों को आनन्द आता है।

अभिनय पूर्ण होना चाहिए। उसका अपूर्ण रह जाना दोष है। इतिहास लेखक किसी बात को अपूर्ण भी रख सकता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं है, परन्तु नाटककार, एक प्रकार से सर्वज्ञ है। जो बात उसके मन में आती है और जिसे वह अभिनय-द्वारा दिखलाना चाहता है उसका कारण, उसका कार्य और उसके सब अङ्ग उसे विदित रहते हैं। अतएव उसका यह काम है कि अभिनीय वस्तु वह यथाक्रम संपूर्ण रूप में दिखलावे; उसका कोई अंग रह न जाने पावे। अर्थात् जिस वस्तु का अभिनय हो उसके विषय की कोई बात दर्शकों से छिपी न रहे। सब बातों के गुण दोष और उनके द्वारा प्राप्त हुए भले-बुरे फल, सब प्रत्यक्ष हो जायँ। इस प्रत्यक्षीकरण का नाम अनुकूलता अथवा कार्य-क्षमता है।

उपन्यास

साहित्य का एक अंग उपन्यास भी है। यह अंग बड़े महत्व का है। यह संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रंथ साहित्य में भी पाया जाता है। पर अंकुर रूप ही में इसके दर्शन होते हैं। हाँ, जैन लेखकों ने इस तरह के कुछ अच्छे-अच्छे ग्रंथ ज़रूर लिखे हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है। संभव है, ऐसी पुस्तकें बहुत रही हों, पर वे सब अब उपलब्ध नहीं। इन पुस्तकों में कथा-कहानियों के बहाने धर्मतत्व और सदाचार की शिक्षा दी गई है। इनको छोड़कर संस्कृत-भाषा में लिखी गई कथासरित्सागर, कादंबरी, वासवदत्ता और दशकुमार-चरित आदि पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती; मानस-शास्त्र के आधार पर किये गये चरित-चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को नहीं मिलती। हाँ, किसी हद तक इनसे मनोरंजन ज़रूर होता है। बस।

प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन उन्नयन और प्रचलन का, श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्हीं ने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है, उन्हीं ने इसे कला का रूप दिया है। उन्होंने इस अंग के कला-निरूपण-संबंध में भी बहुत कुछ लिखा है। उसके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं; आख्यायिका किसे कहते हैं; उनमें क्या गुण होने चाहिए, उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है, इत्यादि।

यह बात नहीं कि जिन लोगों ने पश्चिमी पंडितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रंथ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा उपन्यास लिख ही नहीं सकते। जिनको मनुष्य स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ़ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पंडितों के तत्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।

मनुष्य जो काम करता है, मन की प्रेरणा से करता है। और मन से संबंध रखनेवाला एक शास्त्र ही जुदा है। वह मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान कहाता है। उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों, और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना ज़रूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसा काम होता है अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उनके कार्य-कारण-संबंध का ज्ञान हो। अतएव उपन्यास-लेखक के लिए मनोविज्ञान के कम से कम स्थूल नियमों का जानना अनिवार्य होना चाहिए। उपन्यास लिखनेवाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किये उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिए। उसके घटनानिवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषता और अति-रंजना न होनी चाहिए। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखक को मनः शास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अन्यथा भाव-विश्लेषण ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

उपन्यास-रहस्य के ज्ञाताओं के दो दल हैं। ऊपर जो कुछ लिखा

गया वह पहले दल की सम्मति है। इस सम्मति का सारांश यह है कि मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र के नियम जहाँ जहाँ ले जायँ उपन्यास-कार को वहीं-वहीं जाना चाहिये और तदनुसार ही घटनावलियों और चरित्रों की सृष्टि करनी चाहिए। अनिष्ट-प्राप्ति से मनुष्य का मन विचलित हो उठता है और वह विलाप करने लगता है। यह मानसिक नियम है। पहले दल के क़ायल लेखक इसी का अनुगमन करके घटना निर्माण करेंगे। यदि किसी पक्के वेदाँती या विरागी को अनिष्ट लाभ से कुछ भी दुःख न हो तो उसे अपवाद या नियम विरुद्ध बात समझेंगे।

दूसरे दल के अनुयायियों का कहना है कि मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो ज़रूर मानना चाहिए, पर सदा ही उनसे अपनी विचार-परंपरा को जकड़ लेना ठीक नहीं। सभी घटनाओं और सभी भावों के सम्बन्ध में मनःशास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी रोचक और स्वाभाविक नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखंड सत्ता नहीं देखी जाती। मनःशास्त्र में जिस कारण से जैसे कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य नहीं उत्पन्न होता। अतएव जैसी घटनायें लोक में हुआ करती हैं और मनुष्य समाज में जैसे कार्य-कारण भाव देखने में प्रायः आया करते हैं तदनुकूल ही उपन्यास रचना होनी चाहिये। मनुष्य का मानसिक भाव उसे जिस अवस्था को ले जाय उसी का वर्णन करना चाहिए; इस बात की परवा न करनी चाहिए कि मनोविज्ञान के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती; अतएव इसका वर्णन त्याज्य है। शरीर के भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रह कर शरीर-संगठन में सहायता देता है वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिए। जो इस खूबी को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियमों के पचड़े को गुप्त रख कर चरित्र-चित्रण करते हैं उन्हीं के उपन्यासों का अधिक आदर होता है।

मानसिक नियमों का पालन दृढ़ता पूर्वक करके कोई किसी अन्य पुरुष या स्त्री के भावों का ठीक-ठीक विश्लेषण कर भी नहीं सकता। बात यह है कि सबके मन एकसे नहीं होते। सबकी ज्ञानेंद्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एक-सी नहीं होती। किसी अवस्था-विशेष में पड़ने पर राम जिस प्रकार का व्यवहार करता है, श्याम उस प्रकार का नहीं करता, यह बात हम प्रति दिन प्रत्यक्ष देखते हैं। इस दशा में पद-पद पर मनोविज्ञान की दुहाई देना और राम या श्याम के कार्यों का वैज्ञानिक कारण ढूँढ़ना भ्रम के गर्त में गिरने और घटना व चित्र में नीरसता लाने का द्वार खोल देना है। हर मनुष्य के संस्कार जुदा-जुदा होते हैं। उनके अनुसार कार्य-कारण हुआ करते हैं। किसी नियमावली के पाबंद नहीं। आपके पास यदि कोई धूर्त आवे और चेष्टा तथा वाणी से अपनी निर्धनता का झूठा भाव प्रकट करके आपसे पाँच रुपया दान ले जाय तो, बताइए, आप धोखा खा जायँगे या नहीं। सो संसार में मनोभाव के यथार्थ ज्ञापक कार्य सदा होते भी तो नहीं।

इसके सिवा एक बात और भी है। ये जितने अच्छे-अच्छे उपन्यास आजकल विद्यमान हैं उनके कुंद,इंदु और मल्लिका, मदयंतिका आदि पात्रों के हृदयों में उपन्यास-लेखकों ही को आप बैठा समझिए। इन पात्रों के भाव विश्लेषण के जो चित्र आप देखते हैं वे उनके निज के मन के प्रतिबिंब कदापि नहीं। वे तो उपन्यास लेखकों ही के मन के प्रतिबिंब हैं। मनोभावों और संस्कारों के अनेकत्व में लेखक उनका यथार्थ और संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। वह करता क्या है कि अपने ही मन की माप से औरों के मन की माप-तोल करता है। वह देखता है कि अमुक अवस्था या अमुक अवसर यदि आ जाय तो मैं इस प्रकार का व्यवहार करूँगा। बस वह समझता है कि सारी दुनिया उसी में अंतर्भुक्त है; अवस्था-विशेष में जो वह करेगा या कहेगा वही सब लोग करेंगे या कहेंगे। पर इस प्रकार की धारणा कोरी भ्रांति है।

अच्छा, तो मनोविज्ञान से शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रान्त नहीं हो सकता वैसे ही अपने मन को माप-दंड समझ कर उसी से औरों के मन की माप करना भी भ्रांति-रहित नहीं हो सकता। इस 'उभयतो पाशारज्जुः' की दशा में क्या करना चाहिए? क्या उपन्यास लिखना बंद ही कर देना चाहिए? नहीं, बंद कदापि न कर देना चाहिए। उपन्यास तो साहित्य की एक बड़ी महत्वपूर्ण शाखा है।

घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार ज़रूर लेना चाहिए। पर उतना ही जितने से मानवी मन की स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिराने से बचाव हो सके। मनोभावों के कुछ स्थूल नियम हैं—भय उपस्थित देख भीत होना, इष्ट-नाश से दुःखित होना, आदि। इन नियमों का अतिक्रमण न करना चाहिए। कोई ऐसी बात न कहना और किसी ऐसी घटना का निर्म्माण न करना चाहिए जिससे मनुष्य मनुष्य ही न रहे, वह पशु, देव या दानव आदि हो जाय। बस फिर, दूसरे के मनोगत भावों की विवृति करते समय अपने ही मन को उसके मन के स्थान पर न बिठा देना चाहिए। अमुक अवसर आने पर मैं यह कहता, मैं यह करता, मैं मार बैठता, मैं उत्तेजित हो जाता—इस प्रकार की भावनाओं की प्रेरणा से बहुत करके सत्य का अपलाप हो जाता है। अतएव जिसके मन के मानसिक भावों का विकास करना है उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आसपास की व्यवस्था की—सारांश यह कि उसकी संपूर्ण परिस्थितियों की आलोचना करना चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय और ऐसी परिस्थिति में ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार के होंगे। तब तदनुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। बात यह है कि दुनिया में दूसरे मन के भाव जानने का और कोई उपाय ही नहीं। परिस्थिति और बहिर्दर्शन ही के द्वारा, अनुमान की सहायता से,

दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है। मन का भाव-प्रवाह बाहरी लक्षणों या चिह्नों से जाना जा सकता है, यह बात मानसशास्त्री भी स्वीकार करते हैं। हर्ष, शोक, विराग, अनुराग, क्रोध, भय आदि भावों या विकारों का मानसिक उदय होने पर शरीर और मुख पर कुछ ऐसे चिह्न प्रकट हो जाते हैं जिनसे उन-उन विकारों का पता लग जाता है। अतएव दूसरे के मनोगत भावों का चित्रण करने में परिस्थिति के साथ-साथ इन चिह्नों के उदयास्त का भी खूब विचार करके लेखनी-संचालन करना चाहिए। शरीर, भाषा, चित्र-कला, कारीगरी आदि पर भावों की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। इन भावों का विकास कल्पना द्वारा करना चाहिए। परतु कल्पना को असंयत न होने देना चाहिए। उसकी गति अबोध हो जाने से वह कुपथ में चली जा सकती है।

कभी-कभी शरीर पर अतिरिक्त भावों के कृत्रिम चिह्न भी उदित हो जाते है। उस समय देखने वाले की इंद्रियों को धोखा होता है। अतएव कृत्रिम लक्षणों और इंद्रिय-प्रवंचना से भी बचना चाहिए। सामाजिक नियमों का, क़ानून का, धर्म का, देश, काल और पात्र का भी खयाल रखना चाहिये। उनके प्रतिकूल लिख मारना उपन्यास-लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता का बोधक होता है।

इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सब का काम नहीं। उपन्यासकार को कल्पना के बल पर नई, पर सर्वथा स्वाभाविक, सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन काम को आजकल कोड़ियों ज़ेद और कोड़ियों बकर धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव बना दिया जाता है और कहीं कीट-पतंग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विवृति में संयमशीलता और स्वाभाविकता का कहीं पता और न उनकी कहानी में चावल भर भी

सदुपदेश देने का सामर्थ्य। अनेक उपन्यासों का उद्देश्य अच्छा होने पर भी, बीच-बीच घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं जिनके कारण विवेकशील पाठक के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती।

उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्यायें, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म-कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जा सकते हैं। उपन्यासो के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटको की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं। स्त्रियों और बचो के भी वे शिक्षक बन सकते हैं। मिहनत-मज़दूरी करने वालों को भी वे घंटे भर सदुपदेश दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याण-कारक है।

कुछ लोगों का खयाल है कि सचा सामाजिक चित्र दिखाने में उपन्यासकार को संकोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है, जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की ज़रूरत हो। फिर उसमें चोरों, डाकुओ, व्यभिचारियों, दुराचारियों आदि के चित्र दिखाने की क्या ज़रूरत? प्रसंग आही जाय तो इस तरह के चित्रों की विवृत्ति ऐसे शब्दो से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़ने वालों पर बुरा न पड़े। दोष समझ कर उनकी विवृति करनी चाहिए। जो उपन्यास लेखक अश्लील दृश्य दिखाकर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करता है, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है। यदि वह इस तरह के उपन्यास केवल इस इरादे से लिखता

और प्रकाशित करता है कि उनकी अधिक बिक्री से वह मालदार हो जाय तो वह गवर्नमेंट के न सही, समाज के द्वारा तो अवश्य ही बहुत बड़े दंड का पात्र है।

उपन्यास रचना तो अब पश्चिमी देशों में कला की सीमा को पहुँच गई है। जो उपन्यासकार ऐसे उपन्यास की सृष्टि करता है जिसके पात्रों के चरित्र चिरकाल तक सदुपदेश और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। वह चाहे तो राजा से लेकर रंक तक को और मज़दूर से लेकर करोड़पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो बड़े-बड़े दुराचारों और कुसंस्कारों की जड़ें हिला दे। वह चाहे तो देश में अद्भुत जाग्रति उत्पन्न करके दुःशासन की भुजाओं को बेकार कर दे। जिस उपन्यासकार की रचना से समाज के किसी के अल्प ही समुदाय को कुछ लाभ पहुँच सकता है सो भी कुछ ही समय तक, वह मध्यम श्रेणी का लेखक है। निकृष्ट वह है जो अपनी कुरुचि-वर्द्धक कृतियों से सामाजिक बंधनों को शिथिल और दुर्वासनाओं को और भी उच्छृंङ्खल कर देता है। दुकान-दारी ही की कुत्सित कामना से जो लोग, पाठकों को पशुवत् समझ कर, घास-पात सदृश अपनी बे-सिर-पैर की कहानियाँ उनके सामने फेंकते हैं।

ते के न जानीमहे

मेघदूत

कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है जिसमें पद्यरूपी अनमोल रत्न जड़े हुए है—ऐसे रत्न, जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल-वृष्टि का असर पड़ता है; आँधी-तूफ़ान से उसे हानि पहुँचती है; बिजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट भी हो सकती है। पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसी का कुछ भी जोर नहीं चलता। न वह गिर सकती है, न घिस सकती है, न उसका कोई अंश टूट ही सकता है। काल पाकर और इमारतें जीर्ण होकर भूमसात् हो जाती हैं; पर यह अद्भुत भवन न कभी जीर्ण होगा और न कभी इसका ध्वंस ही होगा। प्रत्युत इसकी रमणीयता-वृद्धि ही की आशा है। इसे अजर भी कह सकते हैं और अमर भी।

अलकाधिपति कुबेर के कर्मचारी एक यक्ष ने कुछ अपराध किया। उसे कुबेर ने, एक वर्ष तक अपनी प्रियतमा पत्नी से दूर जाकर रहने का दण्ड दिया। यक्ष ने इस दण्ड को चुपचाप स्वीकार कर लिया। अलका छोड़कर वह मध्यप्रदेश के रामगिरि नामक पर्वत पर आया। वहीं उसने एक वर्ष बिताने का निश्चय किया। आषाढ़ का महीना आने पर बादल आकाश में छा गये। उन्हें देखकर यक्ष का पत्नी-वियोग-दुःख दूना हो गया। वह अपने को भूल सा गया। इसी दशा में उस विरही यक्ष ने मेघ को दूत कल्पना करके, अपनी वार्ता अपनी

नी के पास पहुँचानी चाही। पहले कुछ थोड़ी सी भूमिका बाँधकर उने मेघ से अलका जाने का मार्ग बताया, फिर सँदेशा कहा। लिदास ने मेघदूत में इन्हीं बातों का वर्णन किया है।

मेघदूत की कविता सर्वोत्तम कविता का एक बहुत ही अच्छा मूना है। उसे वही अच्छी तरह समझ सकता है जो स्वयं कवि । कविता करने ही से कवि-पदवी नहीं मिलती। कवि के हृदय गे—कवि के काव्य-मर्म्म को—जो जान सकते हैं वे भी एक प्रकार र कवि हैं। किसी कवि के काव्य के आकलन करनेवाले का हृदय यदि कहीं कवि ही के हृदय सदृश हुआ तो फिर क्या कहना है। इस दशा में आकलनकर्ता को वही आनन्द मिलेगा जो कवि को उस कविता के निर्म्माण करने से मिला होगा। जिस कविता से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही अधिक ऊँचे दरजे की समझना चाहिए। इसी तरह, जिस कवि या समालोचक को किसी काव्य के पाठ या रसास्वादन से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही अधिक कविता का मर्म्म जाननेवाला समझना चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखकर, आइए, देखें, कालिदास ने इस काव्य में क्या-क्या करामातें दिखाई हैं। पर इससे कहीं यह न समझ लीजिएगा कि हम कवि या समालोचक होने का दावा करते हैं। हम तो ऐसे महानुभावों के चरणों की रज भी नहीं। तथापि—

नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः।

इस कविता का विषय—यहाँ तक कि इसका नाम भी—कालिदास के परवर्ती कवियों को इतना पसन्द आया है कि इसकी छाया पर हंसदूत, पदाङ्कदूत, पवनदूत और कोकिलदूत आदि कितने ही दूत-काव्य बन गये हैं। यह इस काव्य की लोक-प्रियता का प्रमाण है।

कालिदास को इस काव्य के निर्म्माण करने का बीज कहाँ से मिला? इसका उत्तर, "इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा"—इत्यादि इसी काव्य में है।

"इतनो कहत तोहिँ मम प्यारी।
जिमि हनुमत को जनक-दुलारी॥
सीस उठाय निरखि घन लैहै।
प्रफुलित-चित ह्वै आदर दैहै॥"

यक्ष की तरह रामचन्द्र को भी वियोग-व्यथा सहनी पड़ी थी। उन्होंने पवनसुत हनूमान् को अपना दूत बनाया था। यक्ष ने मेघ को दूत बनाया। मेघ का साथी पवन है, हनूमान् की उत्पत्ति पवन से है। अतएव दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध भी हुआ। यह सम्बन्ध काकतालीय-सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु मैथिली के पास रामचन्द्र का सँदेशा भेजना वैसा सम्बन्ध नहीं बहुत सम्भव है, कालिदास को इसी सन्देश-स्मृति ने प्रेरित करके उनसे इस काव्य की रचना कराई हो; बहुत सम्भव है, यह मेघ-सन्देश कालिदास ही का आत्म-सन्देश हो।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर है। वे धाराधिप विक्रम के सभा-रत्न थे। यदि यह बात सत्य हो तो काश्मीर से धारा के मार्ग में जो नदियाँ, नगर, पर्वत और देश आदि पड़ते हैं उनसे कालिदास का बहुत अच्छा परिचय रहा होगा। धारा और काश्मीर के आसपास के प्रदेश, नगर और पर्वत आदि भी उन्होंने अवश्य देखे होंगे। मेघ को बतलाये गये मार्ग में विशेष करके इन्हीं का वर्णन है और यह वर्णन बहुत ही मनोहर और प्रायः यथार्थ है। अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो काश्मीर ही कालिदास की जन्मभूमि हो और जिन वस्तुओं और स्थलों का उन्होंने इस काव्य में वर्णन किया है उनको उन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो।

कवियों की यह सम्मति है कि विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करने से वर्ण्य विषय में सजीवता सी आ जाती है। वह विशेष खुलता है। उसकी सरलता, और सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति बढ़ जाती है। इस काव्य में शृङ्गार और करुण-रस के मिश्रण की अधिकता है। यक्ष का सन्देश कारुणिक उक्तियों से भरा हुआ है। जो

मनुष्य कारुणिक आलाप करता है, या जो प्रेमोद्रेक के कारण अपने प्रेम-पात्र से मीठी-मीठी बातें करता है, वह न तो साँप के सदृश टेढ़ी-मेढ़ी चाल चलता है, न रथ के सदृश दौड़ता ही है। अतएव उसकी बातें भुजङ्गप्रयात या रथोद्धता, या और ऐसे ही किसी वृत्त में अच्छी नहीं लगतीं। वह तो ठहर ठहरकर, कभी धीमे और कभी कुछ ऊँचे स्वर में, अपने मन के भाव प्रकट करता है। यही जानकर कालिदास ने मन्दाक्रान्ता वृत्त का उपयोग इस काव्य में किया है। और, यही जानकर उनकी देखा-देखी, औरों ने भी, दूत-काव्यों में, इसी वृत्त से काम लिया है।

कवि यदि अपने मन का भाव ऐसे शब्दों में कहे जिनका मतलब सुनने के साथ ही, सुननेवाले की समझ में आ जाय तो ऐसा काव्य प्रसाद-गुण से पूर्ण कहा जाता है। जिस तरह पके हुए अंगूर का रस बाहर से झलकता है उसी तरह प्रसाद-गुण-परिप्लुत कविता का भावार्थ शब्दों के भीतर से झलकता है। उसके हृदयङ्गम होने में देर नहीं लगती। अतएव, जिस काव्य में करुणार्द्र-सन्देश और प्रेमातिशय-द्योतक बातें हों उसमें प्रसाद-गुण की कितनी आवश्यकता है, यह सहृदय जनों को बताना न पड़ेगा। प्यार की बात यदि कहते ही समझ में न आ गई—कारुणिक सन्देश यदि कानों की राह से तत्काल ही हृदय में न घुस गया—तो उसे एक प्रकार निष्फल ही समझिये। प्रेमालाप के समय कोई कोश लेकर नहीं बैठता। करुणा-क्रन्दन करने-वाले अपनी उक्तियों में ध्वनि, व्यंग और क्लिष्टता नहीं लाने बैठते। वे तो सीधी तरह, सरल शब्दों में अपने जी की बात कहते हैं। यही समझ कर महाकवि कालिदास ने मेघ-दूत को प्रसाद-गुण से ओत-प्रोत भर दिया है। यही सोचकर उन्होंने इस काव्य की रचना वैदर्भी रीति में की है—चुन-चुनकर सरल और कोमल शब्द रक्खे हैं; लम्बे लम्बे समासों को पास तक नहीं फटकने दिया।

देवताओं, दानवों और मानवों को छोड़कर कवि-कुल-गुरु ने इस

काव्य में एक यक्ष को नायक बनाया है। इसका कारण है। यक्षों के राजा कुवेर हैं। वे धनाधिप हैं। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ उनकी दासियाँ हैं। सांसारिक सुख, धन ही की बदौलत, प्राप्त होते हैं। जिनके पास धन नहीं वे इन्द्रियजन्य सुखों का यथेष्ट अनुभव नहीं कर सकते। कुवेर के अनुचर, कर्मचारी और पदाधिकारी सब यक्ष ही हैं। अतएव कुवेर के ऐश्वर्य का थोड़ा बहुत भाग उन्हें भी अवश्य ही प्राप्त होता है। इससे जिस यक्ष का वर्णन मेघदूत में है उसके ऐश्वर्यवान् और वैभव-सम्पन्न होने में कुछ भी सन्देह नहीं। उसके घर और उसकी पत्नी आदि के वर्णन से यह बात अच्छी तरह साबित होती है। निर्धन होने पर भी प्रेमी जनों में पति-पत्नी-सम्बन्धी प्रेम की मात्रा कम नहीं होती। फिर जो जन्म ही से धन-सम्पन्न है—जिसने लड़कपन ही से नाना प्रकार के सुख-भोग किये हैं—उसे पत्नी वियोग होने से कितना दुःख, कितनी हृदय व्यथा, कितना शोक-सन्ताप हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। ऐसा प्रेमी यदि दो-चार दिन के लिये नहीं, किन्तु पूरे साल भर के लिये, अपनी प्रेयसी से सैकड़ों कोस दूर फेंक दिया जाय तो उसकी विरह-व्याकुलता की मात्रा बहुत ही बढ़ जायगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसे प्रेमी का वियोग-ताप वर्षा में और भी अधिक भीषणता धारण करता है। उस समय वह उसे प्रायः पागल बना देता है। उसी समय इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि इस प्रेमी का प्रेम कैसा है और वह अपनी प्रेयसी को कितना चाहता है। कालिदास ने इस काव्य में आदर्श-प्रेम का चित्र खींचा है। उस चित्र को सविशेष हृदयहारी और यथार्थता-व्यञ्जक करने के लिये यक्ष को नायक बनाकर कालिदास ने अपने कवि-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है। अतएव आप यह न समझिये कि कवि ने यों ही, बिना किसी कारण के, विप्रयोग-शृंगार वर्णन करने के लिये, यक्ष का आश्रय लिया है।

विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये ही जिस प्रेम की उत्पत्ति होती

है वह नीच प्रेम है। वह निन्द्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम अवान्तर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता। प्रेम-पथ से प्रयाण करते समय आई हुई बाधाओं को वह कुछ नहीं समझता। विघ्नों को देखकर वह मुसकरा देता है। क्योंकि इन सब को उसके सामने हार माननी पड़ती है। मेघदूत का प्रेमी निर्व्याज प्रेमी है। उसका हृदय बड़ा ही उदार है। उसमें प्रेम की मात्रा इतनी अधिक है कि ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि विकारों के लिये जगह ही नहीं। यक्ष को उसके स्वामी कुबेर ने देश से निकाल दिया। परन्तु उसने इस कारण, अपने स्वामी पर ज़रा भी क्रोध प्रकट नहीं किया। उसको एक भी बुरे और कड़े शब्द से याद नहीं किया। उसकी सारी विप्रयोग-पीड़ा का कारण कुबेर था। पर उसकी निन्दा करने का उसे खयाल तक नहीं हुआ। फिर, देखिए, उसने अपनी मूर्खता पर भी आक्रोश-विक्रोश नहीं किया। यदि वह अपने काम में असावधानता न करता तो क्यों वह अपनी पत्नी से वियुक्त कर दिया जाता। अपने सारे दुःख-शोक का आदि-कारण वह खुद ही था। परन्तु इसका भी उसे कुछ खयाल नहीं। उसने अपने को भी नहीं धिक्कारा। वह धिक्कारता कैसे? उसके हृदय में इस प्रकार के भावों के लिए जगह ही न थी। उसका हृदय तो अपनी प्रेयसी के निर्व्याज प्रेम से ऊपर तक लबालब भरा हुआ था। वहाँ पर दूसरे विकार रह कैसे सकते थे?

जो ऐसे मधुर प्रेम-मद से मत्त हो रहा है, जिसकी सारी इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों से खिंचकर एक मात्र प्रेम-रस में सर्वतोभाव से डूब रही हैं, जिसके प्रेम-परिपूर्ण हृदय में और कोई सांसारिक भावनायें या वासनायें आने का साहस तक नहीं कर सकतीं, वह यदि अचेतन मेघ को दूत बनावे और उसके द्वारा अपनी प्रेयसी के पास अपना सन्देश भेजे तो आश्चर्य ही क्या? जो मत्त है और जो संसार की प्रत्येक वस्तु में अपने प्रेम पात्र को देख रहा है उसे यदि जड़-चेतन का भेद

मालूम रहे तो फिर उसके प्रेम की उच्चता कैसे स्थिर रह सकती है ? वह प्रेम ही क्या जो इस तरह के भेद-भाव को दूर न कर दे ! कीट-योनि में उत्पन्न पतंगों के लिए दीप-शिखा की ज्वाला अपने प्राकृतिक दाहक गुण से रहित मालूम होती है । महा-प्रेमी यक्ष को यदि मेघ की अचेतना का खयाल न रहे तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं । फिर, क्या यक्ष यह न जानता था कि मेघ क्या चीज़ है ? वह मेघदूत के आरम्भ ही में कहता है—

"घाम धूम नीर औ समीर मिले पाइ देह
ऐसो घन कैसे दूत-काज भुगतावेगो ।
नेह को सँदेसो हाथ चातुर पठैबो जोग
आदर कहो जी ताहि कैसे कै सुनावेगो ॥
बाढ़ी उत्कण्ठा जक्ष-बुद्धि बिसरानी सब
याही सों निहोरयो जानि काज कर आवेगो ।
कामातुर होत हैं सदाई मति-हीन तिन्हें
चेत और अचेत माँहि भेद कहाँ पावेगो" ॥

उस समय यक्ष को केवल अपनी प्रेयसी का खयाल था । वही उसके तन और मन में बसी हुई थी । अन्य सांसारिक ज्ञान उसके चित्त से एकदम तिरोहित हो गया था । वह एक प्रकार की समाधि में निमग्न था । इस समाधिस्थ अवस्था में यदि उसने निर्जीव मेघ को दूत कल्पना किया तो कोई ऐसी बात नहीं की जो समझ में न आ सके । कवि का काम वैज्ञानिक के काम से भिन्न है । वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में देखता है । परन्तु यदि कवि ऐसा करे तो उसकी कविता का सौन्दर्य, प्रायः सारा, विनष्ट हो जाय । कवि को आविष्कर्ता या कल्पक न समझना चाहिए । उसकी सृष्टि ही दूसरी है । वह निर्जीव को सजीव और सजीव को निर्जीव कर सकता है । अतएव मध्य-भारत से हिमालय की तरफ़ जानेवाले पवन-प्रेरित मेघ को सन्देश-वाहक बनाना ज़रा भी अनौचित्य-

दर्शक नहीं। फिर, एक बात और भी है। कवि का यह आशय नहीं कि मेघ सचमुच ही यक्ष का सन्देश ले जाय। उसने इस बहाने विप्रयुक्त यक्ष की अवस्था का वर्णन मात्र किया है और उसके द्वारा यह दिखाया है कि इस तरह के सच्चे वियोगी प्रेमियों के हृदय की क्या दशा होती है ; उन्हें कैसी-कैसी बातें सूझती हैं, और उन्हें अपने प्रेमपात्र तक अपना कुशलवृत्त पहुँचाने की कितनी उत्कण्ठा होती है।

यक्ष को अपने मरने-जीने का कुछ खयाल न था। खयाल उसे था केवल अपनी प्रियतमा के जीवन का। 'दयिताजीवितालम्बनार्थम्'—ही उसने सन्देश भेजा था। उसकी दयिता का जीवन उसके जीवन पर अवलम्बित था। उसके मरने अथवा जीवित होने में सन्देह उत्पन्न होने से उसकी दयिता जीती न रह सकती थी। अतएव यक्ष का सन्देश उसकी यक्षिणी को जीती रखने की रामबाण औषधि थी। यह औषधि वह जिसके द्वारा पहुँचाना चाहता था उसके सुख-दुःख का भी उसे बहुत खयाल था। इसी से उसने मेघ के लिए ऐसा मार्ग बतलाया जिसमें जाने में ज़रा भी कष्ट न हो। उसके मार्ग-श्रम का परिहार होता रहे, अच्छे-अच्छे दृश्य भी उसे देखने को मिलें, और देवताओं और तीर्थों के दर्शन भी हों। ऐसा न होने से मेघ भी क्यों उसका सन्देश पहुँचाने को राज़ी होता? फिर, एक बात और भी है। विरह-कातर यक्ष का सन्देश उसकी प्रियतमा तक पहुँचा कर उसे जीवन दान देना कुछ कम पुण्य का काम नहीं। संसार में परोपकार की बड़ी महिमा है। उसे करने का मौक़ा भी मेघ को मिल रहा है। फिर भला क्यों न वह यक्ष का सन्देश ले जाने के लिए राज़ी होता। रामगिरि से अलका तक जाने में विदिशा, उज्जयिनी, अवन्ती, कनखल, रेवा, सिप्रा, भागीरथी, कैलाश आदि नगरों, नदियों और पर्वतों के मनोहर दृश्यों का वर्णन कालिदास ने किया है। उन्हें देखने की किसे उत्कण्ठा न होगी? कौन ऐसा हृदय-हीन होगा जो उज्जयिनी में महाकाल के और कैलास में शंकर-पार्वती के दर्शनों से अपनी

आत्मा को पावन करने की इच्छा न रक्खे ? कौन ऐसा आत्म-शत्रु होगा जो जंगल में लगी हुई आग को जल की धारा से शान्त करके चमरी आदि पशुओं को जल जाने से बचाने का पुण्य-सञ्चय करना न चाहे ? मार्ग रमणीय, देवताओं और तीर्थों के दर्शन, परोपकार करने के साधन—ये सब ऐसी बातें हैं जिनके लिए मूढ से मूढ मनुष्य भी थोड़ा .बहुत कष्ट खुशी से उठा सकता है। मेघ की आत्मा तो आर्द्र होती है ; सन्तप्तो'को सुखी करना उसका विरुद है। अतएव वह यक्ष का सन्देश प्रसन्नता-पूर्वक पहुँचाने को तैयार हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या है।

अपनी प्रियतमा को जीवित रखने में सहायता देने वाले मेघ के लिए यक्ष ने जो ऐसा श्रमहारक और सुखद मार्ग बतलाया है वह उसके हृदय के औदार्य्य का दर्शक है। कालिदास ने इस विषय में जो कवि-कौशल दिखाया है उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। यदि मेघ का मार्ग सुखकर न होता—और, याद रखिए, उसे बहुत दूर जाना था—तो कौन आश्चर्य जो वह अपने गन्तव्य स्थान तक न पहुँचता। और, इस दशा में, यक्षिणी की क्या गति होती, इसका अनुमान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। इसी दुःखद दुर्घटना को टालने के लिए ऐसे अच्छे मार्ग की कल्पना कवि ने की है।

आप कहेंगे, यह निर्व्याज प्रेम कैसा कि यक्ष ने, सन्देश में, अपनी वियोगिनी पत्नी का कुशल-समाचार तो पीछे पूछा, पहले अपने ही को 'अव्यापन्नः' कहकर अपना कुशल-वृत्त बतलाने और अपनी ही वियोग-व्यथा का वर्णन करने लगा। इससे तो यही सूचित होता है कि उसे अपने सुख-दुःख का अधिक खयाल था, यक्षिणी के सुख-दुःख का बहुत ही कम। नहीं, ऐसा न कहिए। यक्ष का यह काम उलटा आपके इस अनुमान का खण्डन करता है। आप इस बात को भूल गये हैं कि यक्षिणी का जीवन यक्ष के जीवन पर ही अवलम्बित है। इसमें संशय उत्पन्न होने से वह जीवित नहीं रह सकती। मेघदूत को पढ़

कर यदि आपने इतना भी न जाना तो कुछ न जाना। यक्षिणी के प्राणावलम्ब का हेतु यक्ष है। अतएव उसी के कुशल-समाचार सुनने से यक्षिणी अपना जीवन धारण करने में समर्थ हो सकती है। यक्ष को स्वार्थी न समझिए। वह अपनी दशा का वर्णन करके अपनी स्वार्थपरता नहीं प्रकट करता। वह अपनी दयिता के जीवन को नष्ट होने से बचाने की दवा कर रहा है। यक्ष के सन्देश की पहली पंक्ति है—

"भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे मामम्बुवाहम्"।

आप देखिए, इसमें यक्ष ने 'भर्तुः' पद रखकर पूर्वोक्त आशय को कितनी स्पष्टता से प्रकट किया है। जान-बूझकर उसने सन्देश के आदि ही में पति-शब्द का वाचक भर्तु-शब्द इसी लिए रक्खा है जिसमें यक्षिणी को तत्काल इसका ज्ञान हो जाय कि मेरा पति जीवित है। वियोगिनी पतिव्रताओं के कान में यह शब्द जैसी अमृतवर्षा करता है उसका अन्दाजा सभी सहृदय कर सकते हैं। कवि यदि चाहता तो 'भर्तुर्मित्रं' की जगह 'मित्रं भर्तुः' कर सकता था। उससे भी छन्द की गति में व्याघात न आता। परन्तु नहीं, उसने यक्षिणी के कान में सबसे पहिले 'भर्तुः' का सुनना ही उचित समझा।

पूर्वोक्त पंक्ति में 'भर्तुः' का समकक्ष और अर्थ-विशेष से भरा हुआ 'अविधवे' पद भी है। सन्देश की पहली पंक्ति में इसके रखने का भी कारण है। यक्ष ने इसके द्वारा अपनी सहधर्मचारिणी को सूचित किया है कि तू विधवा नहीं हो गई—सौभाग्यवती बनी हुई है; तेरा स्वामी अब तक जीता है। इससे अधिक आनन्ददायक समाचार स्त्री—और पतिप्राणा स्त्री—के लिए और क्या हो सकता है? यक्ष का सन्देश उसकी पत्नी के लिए सचमुच ही 'श्रोत्रपेय' है।

स्त्रियाँ नहीं चाहतीं कि उनके पति के प्रेम का छोटे से छोटा अंश भी कोई और ले जाय। वे उसके सर्वांश पर अपना अधिकार समझती हैं। वियोगावस्था में उन्हें अपने इस अधिकार के छिन जाने का डर रहता है। यक्ष इस बात को अच्छी तरह जानता है।

इसके परिणाम से भी वह अनभिज्ञ नहीं। यही कारण है जो वह अपनी वियोग-कातरता का कारुणिक वर्णन कर रहा है। यही कारण है जो वह छोटी छोटी चीज़ों में भी अपनी पत्नी की सदृशता ढूँढ़ रहा है। यही कारण है जो वह उत्तर-दिशा से आये हुए सुरभित पवन के स्पर्श को भी बहुत कुछ समझ रहा है। वह यह बतला रहा है कि दूर हो जाने से मेरे प्रेम में कमी नहीं हो गई; प्रत्युत वह पहले से भी अधिक प्रगाढ़ हो गया है। अतएव तू अपने मन में किसी प्रकार की अनुचित आशङ्का को स्थान न दे।

यक्ष के निःस्वार्थ और निर्व्याज प्रेम की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। वह अपने कुशल-समाचार भेजकर और अपनी विरह-व्याकुलता का वर्णन करके ही चुप नहीं रहा। उसे शङ्का हुई कि कहीं मेरी पत्नी इस सन्देश को बनावटी न समझे। प्रेमियों की दशा बड़ी ही विचित्र होती है; वे न कुछ को बहुत कुछ समझने लगते हैं और हवा में गाँठें लगाना भी वे खूब ही जानते हैं। यक्ष की अजीब अवस्था है। उसे डर है कि कहीं ऐसा न हो कि इतना आश्वासन देने पर भी यक्षिणी इन बातों पर पूर्ण-विश्वास न करे। अतएव इस सन्देह का भंजन करना भी उसने आवश्यक समझा। इसी लिए उसे सन्देश में यह कहना पड़ा—

"और कहूं सुनि एक दिना हियरा लगि मेरे तू सोई रही
आवत नींद न वेर भई जगि औचक रोय उठी तबही।
पूछी जु मैं घन बारहिंबार तो तैं मुसकाइ के ऐसे कही
देखति ही सपने छलिया तुमने एक सौति की बाँह गही॥"

अब सन्देह करने का कोई कारण नहीं। यक्ष के जीवित होने का इससे अधिक विश्वसनीय प्रमाण और क्या हो सकता है?

मेघदूत के यक्ष का प्रेम पत्नी-सम्बन्धी है। वह ऊँचे दरजे का है। वह निःस्वार्थ है—निर्दोष है। यक्ष अपने और अपनी प्रेयसी के जीवन को अन्योन्याश्रित समझता है। यक्ष जिस तरह अपना सन्देश

भेजकर पत्नी की प्राण-रक्षा करना चाहता है उसी तरह, बहुत सम्भव है, उसकी पत्नी भी वियुक्त होने के कारण पति की प्राण-धारणा के विषय में सशङ्क रही होगी। प्रेम से जीवन पवित्र हो सकता है, प्रेम से जीवन को अलौकिक सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है, प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य-प्रेम से ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है—इसके कितने ही उदाहरण इस देश में पाये जाते हैं। गोपियों के प्रेम को आप लौकिक न समझिए। वह सर्वथा अलौकिक था। अन्यथा—

नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा। ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥

उनके मुख से कभी न निकलता। अतएव प्रेम की महिमा अकथनीय है। जिसने उसे कुछ भी जाना है वह कालिदास के मेघदूत के रहस्य को भी जान सकेगा।

परन्तु, जो लोग उस रास्ते नहीं गये उनके मनोरंजन और आनन्दोत्पादन की भी सामग्री मेघदूत में है। उसमें आपको चित्रकूट के ऊपर बने हुए ऐसे कुञ्ज देखने को मिलेंगे जिनमें वनचरों की स्त्रियां विहार किया करती हैं। पर्वतों के ऐसे दृश्य आप देखेंगे जिन्हें वर्षा-ऋतु में केवल वही लोग देख सकते हैं जो पर्वतवासी हैं या जो विशेष करके इसी निमित्त पर्वतों पर जाते हैं। दशार्ण की केतकी कभी आपने

लोभ

लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है; क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता। इसलिये जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं, तो वह वृथा अहंकारी अवश्य है। जो बहुत धनवान् है, वह यदि बहुत बुद्धिमान् और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब कुछ समझते। परन्तु ऐसा नहीं है। धनी मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान् नहीं होते। इसलिये धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है; क्योंकि उससे सच्चा सुख नहीं मिलता। इस देश के पहुँचे हुए विद्वानों ने धन को सदा तुच्छ माना है। यह बात आजकल के समय के अनुकूल नहीं। योरप और अमेरिका के ज्ञानी धन ही को बल—बल नहीं, सर्वस्व समझते हैं। परन्तु जिस धन के कारण अनेक अनर्थ होते हैं, उस धन को प्रधानता कैसे दी जा सकती है? और देशों में उसे भले ही प्रधानता दी जाय; परन्तु भारतवर्ष में उसे प्रधानता मिलना कठिन है। जिस देश के निवासी संसार ही को मायामय,' अतएव दुःख का मूल कारण समझते हैं, वे धन को कदापि सुख का हेतु नहीं मान सकते।

बहुत धनवान् होना व्यर्थ है। उससे कोई लाभ नहीं। क्योंकि साधारण रीति पर खाने-पीने और पहनने आदि के लिये जो धन काम आता है वही सफल है। उससे अधिक धन होने से कोई काम

परस्पर वैर है। अतएव उसी को धनी समझना चाहिये जिसकी आवश्यकतायें कम हैं; क्योंकि वह थोड़े ही में तृप्त हो जाता है। तृप्ति ही सुख है; और लोभ ही दुःख है।

सन्तोष नीरोगता का लक्षण है; लोभ बीमारी का लक्षण है। जो मनुष्य खाते खाते सन्तुष्ट नहीं होता, उसे अधिक खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके लिये वैद्य की आवश्यकता होती है। ऐसे मनुष्यों को अधिक खिलाने की अपेक्षा उसके खाये हुए पदार्थों को, वमन कराके बाहर निकालना पड़ता है। क्योंकि अनावश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक पदार्थ पेट में रहने से रोग हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह जिनको सन्तोष नहीं, अर्थात् जो लोग प्रति-दिन अधिक अधिक धन इकट्ठा करने के यत्न में रहते हैं, उनको अधिक देने की अपेक्षा उनसे कुछ छीन लेना अच्छा है। क्योंकि जब कोई वस्तु कम हो जाती है, तब मनुष्य बची हुई से सन्तोष करता है। अतएव सन्तोष होने से उसे सुख मिलता है। सन्तोष न होने से कभी सुख नहीं मिलता; किसी न किसी वस्तु की सदैव कमी ही बनी रहती है। लोभी मनुष्य को चाहे त्रिलोक की सम्पत्ति मिल जाय, तो भी उसे और सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी ही रहेगी।

लोभ एक तरह की बीमारी है; परन्तु है वह बड़ी सख्त बीमारी। सख्त इसलिये है कि वह अपने को बढ़ाने का यत्न करती है, घटाने का नहीं। जो मनुष्य भूखा होता है, वह भोजन करता है; भोजन छोड़ नहीं देता। परन्तु लोभी का प्रकार उलटा है। उसे द्रव्य की भूख रहती है; परन्तु जब वह उसे मिल जाता है, तब उसे वह काम में नहीं लाता; रख छोड़ता है; और अधिक धन पाने के लिए दौड़-धूप करने लगता है।

लोभी मनुष्य बहुधा इसलिए धन इकट्ठा करता है जिसमें उसे किसी समय उसकी कमी न पड़े। परन्तु उसे उसकी कमी हमेशा ही बनी रहती है। पहले उसकी कमी कल्पित होती है; परन्तु पीछे से वह

यथार्थ—असली हो जाती है; क्योंकि घर में धन होने पर भी वह उसे काम में नहीं ला सकता। लोभ से असन्तोष की वृद्धि होती है, और सन्तोष का सुख खाक में मिल जाता है। लोभ से भूख बढ़ती है और तृप्ति घटती है। लोभ से मूल धन व्यर्थ बढ़ता है, और उसका उपयोग कम होता है। लोभी का धन देखने के लिये, वृथा रक्षा करने के लिए और दूसरों को छोड़ जाने ही के लिये होता है। ऐसे धन से क्या लाभ? ऐसे धन को इकट्ठा करने में अनेक कष्ट उठाने की अपेक्षा संसार भर में जितना धन है, उसे अपना ही समझना अच्छा है। क्योंकि लोभी का धन उसके काम तो आता नहीं; इसलिये उसे दूसरे का धन, मन ही मन, अपना समझने में कोई हानि नहीं। उससे उलटा लाभ है; क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। लोभियों को खजाने के सन्तरी समझना चाहिये। लोभी मनुष्य जब तक जीते हैं, तब तक सन्तरी के समान अपने धन की रखवाली करते हैं और मरने पर उसे दूसरों के लिये छोड़ जाते है।

कोई कोई लोभी, अपने पीछे, अपने लड़कों के काम आने के लिए धन इकट्ठा करते हैं। उनको यह समझ नहीं कि जिस धन के बिना उनका काम चल गया, उसके बिना उनके लड़कों का भी चल जायगा। इस प्रकार बाप-दादे का धन पाकर अनेक लोग बहुधा उसे बुरे कामों में लगा कर खुद भी बदनाम होते हैं और अपने बाप-दादे को भी बदनाम करते हैं।

धनवान् यदि लोभी है तो उसे रात को वैसी नींद नहीं आ सकती जैसी निर्धन अथवा निर्लोभी को आती है। धनवान् को निर्धन की अपेक्षा भय भी अधिक रहता है। यदि मनुष्य लोभी है तो थोड़ी सम्पत्तिवाले से हम अधिक सम्पत्तिवाले ही को दरिद्री कहेंगे। क्योंकि जिसे ५ रुपये की आवश्यकता है, वह उतना दरिद्री नहीं, जितना ५०० रुपये की आवश्यकतावाला है। कहाँ ५ और कहाँ ५०० सधनता, और निर्धनता मन की बात है। जिनका मन उदार है, वे अनुदार

और लोभी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक धनवान् है, क्योंकि उदारता के कारण उनका धन किसी के काम तो आता है—चाहे वह बहुत ही थोड़ा क्यों न हो। बहुत धनी होकर भी यदि मनुष्य लोभी हुआ और उसका धन किसी के काम न आया तो उसका होना न होना दोनों बराबर हैं। शेख सादी ने बहुत ठीक कहा है —

तवंगरी बदिलस्त न बमाल

अर्थात् अमीरी दिल से होती है, माल से नहीं।

क्रोध

याद रखिए, क्रोध से और विवेक से शत्रुता है। क्रोध विवेक का पूरा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार की प्रचंड आँधी है। जब क्रोध रूपी आँधी आती है, तब दूसरे की बात नहीं सुनाई पड़ती। उस समय कोई चाहे कुछ भी कहे, सब व्यर्थ जाता है। आँधी में भी किसी की बात नहीं सुन पड़ती। इसलिए ऐसी आँधी के समय बाहर से सहायता मिलना असंभव है। यदि कुछ सहायता मिल सकती है तो भीतर से ही मिल सकती है। अतएव मनुष्य को उचित है कि वह पहले ही से विवेक, विचार और चिंतन को अपने हृदय में इकट्ठा कर रक्खे जिसमें क्रोध रूपी आँधी के समय वह उनसे भीतर से सहायता ले सके। जब कोई नगर किसी बलवान् शत्रु से घेर लिया जाता है, तब उस नगर में बाहर से कोई वस्तु नहीं आ सकती। जो कुछ भीतर होता है, वही काम आता है। क्रोधांध होने पर भी बाहर की कोई वस्तु काम नहीं आती। इसी लिए हृदय के भीतर सुविचार और चिंतन की आवश्यकता होती है।

क्रोध इतना बुरा विकार है कि वह सुविचार को जड़ से नाश करने की चेष्टा करता है। वह विष है; क्योंकि उसके नशे में भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। वह मूर्तिमान् मत्सर है; उसके कारण क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य का भी लोग मत्सर करने लगते हैं। क्रोधी मनुष्य प्रत्येक बात पर, प्रत्येक दुर्घटना पर और प्रत्येक मनुष्य पर, बिना कारण अथवा बहुत ही थोड़े कारण से, बिगड़ उठता है। यदि क्रोध

का कारण बहुत बड़ा हुआ तो वह उग्र रूप धारण करता है। और यदि उसका कारण छोटा हुआ तो चिड़चिड़ाहट ही तक उसकी नौबत पहुँचती है। अतएव, या तो वह प्रचंड होता है या उपहासजनक। दोनों प्रकार से वह बुरा होता है। क्रोध मनुष्य के शरीर को भयानक कर देता है; शब्द को कुत्सित कर देता है; आँखों को विकराल कर देता है; चेहरे को आग के समान लाल कर देता है; बातचीत को बहुत उग्र कर देता है। क्रोध न तो मनुष्यता ही का चिह्न है और न स्वाभाव के सरल किंवा आत्मा के शुद्ध होने ही का चिह्न है। वह भीरुता अथवा मन की क्षुद्रता का चिह्न है। क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक क्रोध आता है; नीरोग मनुष्यों की अपेक्षा रोगियों को, युवा पुरुषों की अपेक्षा बुड्ढों को; और भाग्यवानो की अपेक्षा अभागियों को। जो मनुष्य क्षुद्र हैं उन्हीं को क्रोध शोभा देता है; सज्ञान, उदार और सत्पुरुषों को नहीं।

जिसे क्रोध आता है वह उसे ही दुःखदायक नहीं होता; क्रोध के समय जो लोग वहाँ होते हैं, उनको भी वह दुःखदायक हो जाता है। चार आदमियों के सामने किसी छोटे से अपराध पर नौकर-चाकरों को बुरा-भला कहना और उन पर क्रोध करना किसी को अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार क्रोध करना और उचित-अनुचित बोलना असभ्यता का लक्षण है। क्रोध ही के कारण स्त्री-पुरुष में बिगाड़ हो जाता है। क्रोध ही के कारण मित्रों का साथ, सभा-समाज का जाना, और जान-पहचानवालों के साथ उठना-बैठना असह्य हो जाता है। क्रोध ही के कारण सीधी-सादी हँसी की बातों से भयानक और शोककारक घटनायें पैदा हो जाती है। क्रोध ही के कारण मित्र द्रोह करने लगते हैं। क्रोध ही के कारण मनुष्य अपने आप को भूल जाता है, उसकी विचार-शक्ति जाती रहती है; और बातचीत करने में वह कुछ का कुछ कहने लगता है। क्रोध ही के कारण मनुष्य, किसी वस्तु का चुपचाप ज्ञान प्राप्त न करके, व्यर्थ झगड़ा करने लगता ... जिनको

ईश्वर ने प्रभुता दी है वह उनको क्रोध घमंडी बना देता है। क्रोध सारासार विचार पर परदा डाल देता हैं, उपदेश और शिक्षा को क्लेशदायक कर देता है; श्रीमान् को द्वेष का पात्र कर देता है। जो लोग भाग्यवान् नहीं, वे यदि क्रोधी हुए तो उन पर कोई दया नहीं करता। क्रोधी अनेक बुरे विकारों की खिचड़ी है। उसमें दुःख भी है, द्वेष भी है, भय भी है, तिरस्कार भी है, घमंड भी है, अविवेकता भी है, उतावली भी है, निर्बोधता भी है। क्रोध के कारण दूसरों को चाहे जितना क्लेश मिले, तथापि जिस मनुष्य को क्रोध आता है उसी को सबसे अधिक क्लेश मिलता है; और उसी की सबसे अधिक हानि भी होती है।

क्रोध से बचने अथवा क्रोध को दूर करने के लिये क्रोध करना उचित नहीं। अपने ऊपर भी क्रोध करने से क्रोध बढ़ता है, घटता नहीं। क्रोध से बचने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने मन में उठने से पहले यह प्रण करे कि वह उस दिन क्रोध न करेगा, फिर चाहे उसकी कितनी ही हानि क्यों न हो। इस प्रकार प्रण करके उसे सजग रहना चाहिये। एक दिन बहुत नहीं होता। यदि वह एक दिन भी क्रोध को जीत लेगा तो दूसरे दिन भी वैसा ही प्रण करने के लिये उसमें साहस आ जायगा। तब उसे दो दिन क्रोध न करने के लिए प्रण करना उचित है। इस भाँति बढ़ाते बढ़ाते क्रोध न करने का स्वभाव पड़ जायगा। क्रोध मनुष्य का पूरा शत्रु है। उसके कारण मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है। जिसने क्रोध को जीत लिया उसके लिये कठिन से कठिन काम करना सहल है।

क्रोध को बिलकुल ही छोड़ देना भी अच्छा नहीं। किसी को बुरा काम करते देख उसे पहले मीठे शब्दों से उपदेश देना चाहिये। यदि ऐसे उपदेश से वह उस काम को न छोड़े तो उस पर क्रोध भी करना उचित है। जिस क्रोध से अपने कुटुम्बियों, अपने इष्ट मित्रों अथवा दूसरों का आचरण सुधरे, ईश्वर में पूज्य-बुद्धि उत्पन्न हो, दया, उदारता और परोपकार में प्रवृत्ति हो वह क्रोध बुरा नहीं।
